

प्रकाशक

श्री गणेश स्मृति ग्रन्थमाला

(श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ द्वारा संचालित)

समता भवन, रामपुरिया मार्ग,

बीकानेर (राज.)-३३४००१



प्रथम संस्करण : ११०० (१९७५)

द्वितीय संस्करण : ११०० (१९८३)

—२) ५० रुपये ।



पुत्रक :

श्री गणेश स्मृति ग्रन्थमाला,

(श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ द्वारा संचालित)

समताभवन, रामपुरिया मार्ग, बीकानेर (राजस्थान)

पि०-३३४००१

प्रकाशकीय

साहित्य की विविध विधाओं में 'कहानी' को सर्वाधिक लोकप्रियता प्राप्त है। पाठक के समय को सरस बनावे के साथ ही कहानी उस पर स्थायी प्रभाव छोड़ती है। प्रत. वह एक साथ ही रजक एवं प्रेरणा-स्रोत भी है।

कहानी-साहित्य में जैन-कथाओं का विशेष महत्व है। प्राचीनकाल से दृष्टांत-स्वरूप अथवा स्वतन्त्र रूप से दिविष कथाएँ लिखी जाती रही हैं और उनसे नैतिकता तथा आध्यात्मिकता के प्रचार-प्रसार में अच्छा योग प्राप्त हुआ है।

'सौंदर्य-दर्शन' में श्री शान्तिचन्द्र जी मेहता की ११ कहानियों का संग्रह प्रकाशित किया गया है। इन कहानियों की कथावस्तु परम्परागत है परन्तु लेखक ने इन्हें नवीन शिल्प से षण्डित करके सोने में सुगन्ध का काम कर दिया है।

मन्त्री

श्री अ. भा. सा. जैन संघ
बीकानेर (राज०)

अनुक्रमिका

| | |
|---------------------|-----|
| १. घघकते अगारे | १ |
| २. नवंकी | १४ |
| ३. सौन्दर्य-दर्शन | २८ |
| ४. पदाघात | ३६ |
| ५. अनमोल मोती | ५० |
| ६. अगूठी | ६३ |
| ७. स्वर्णमुद्रा | ७० |
| ८. हार और हाथी | ७६ |
| ९. चावल के पाच दाने | ८७ |
| मद्मुत परिवर्तन | ९७ |
| कठोर प्रायश्चित्त | १०६ |



धधकते अंगारे

‘क्या निर्दोष भिक्षा मिल सकेगी, माता ?’

देवकी रानी के सामने दो युवा मुनि खड़े थे । इतने स्वरूपवान, इतने तेजस्वी और इतने मनोरम कि उन्हें देखते ही अपार रनेह उमड आये । तिस पर उन्होंने जो ‘माता’ कहा तो देवकी को ऐसे लगा कि सचमुच ही वे उसके ही पुत्र हों । स्नेह-विभोर हो उनने उन्हें वन्दन किया और हृषित हो वह उन्हें पाकशाला के भीतर ले गई ।

‘मुनिवर, आपकी प्राकृतियों पर कितना रमणीय भाव है कि मेे आपके दशन कर स्नेहार्द्र हो गई हूँ — देवकी ने अभ्यर्पना की ।

‘यह तुम्हारा भयम के प्रति स्नेह है, माता ।’

पाकशाला में मोदक बने हुए थे व निर्दोष थे, जिन्हें देवकी ने मुनिमो की प्रादश्यकतानुसार उनके पात्र में बहराए । मुनिद्वय प्राहार देकर वापस लौट गये ।

दोघी दर बाद फिर वैसे ही स्वरूपवान दो युवा मुनि आये और उन्होंने भी निर्दोष भिक्षा की याचना की । देवकी को कुछ

शंका हुई, वह यही समझी कि पहले वाले मुनिद्वय ही स्वाद के लोभ से मोदक ग्रहण करने फिर आ गये हैं। उसे मोदक का नहीं; मुनिघम का विचार आया, फिर भी वह बोली नहीं। उसने उन्हें मोदक बहरा दिये।

फिर वैसे ही स्वरूपवान दो युवा मुनि और आये तथा उन्होंने भी निर्दोष भिक्षा की याचना की। अब देवकी रानी को अपने मन में यह निश्चय-आ हो गया कि थोड़ी-थोड़ी देर बाद पहली बार आने वाले मुनिद्वय ही तीसरी बार फिर मोदक लेने उसके यहा आ पहुँचे हैं।

देवकी स्वयं नियमधारिणी थी व व्रत, नियम की परीक्षा के प्रति कठोर भी थी। साधु स्वादु बन जाये—यह उमे चहा नहीं हुआ। साधु जीने के लिये खाता है, उसे खाने के लिये नहीं जीना चाहिये, फिर ऐसे तेजस्वी मुनियों से ऐसी भूल क्यों हो रही है? उस भूल को सुधारना देवकी ने अपना कर्तव्य समझा।

उसने प्रति व्रतपूर्वक तीसरी बार आये मुनिद्वय से पूछा—
‘मुनिवर, क्या पूरी द्वारिका नगरी में भिक्षा हेतु मेरा ही गृह ठीक लगा थापको?’

‘यह तुमने क्यों पूछा, माता? हम तुम्हें रानी समझ कर स्वादु भोजन लेने तुम्हारे यहाँ नहीं आये हैं। सभी छोटे-बड़े घरों में हम घूमते हैं बिना भेदभाव के। मात्र तू कि नगरी के दूग भाग में भिक्षायें हम आये तो बीच में हमने दस गृह को छोड़ देना उचित नहीं समझा और इसी कारण यहाँ भी चले आये हैं। पाहार के स्वाद के प्रति हम कोई ममता नहीं रखते हैं, माता!’
मुनियों का उत्तर उससे भी अधिक व्रतप्र था।

‘तो क्या मेरी आँखें धाँवा खा रही हैं जो मैं आप दोनों

मुनियों को थोड़ी-थोड़ी देर में इसी गृह में घाते हुए देख रही है ? क्या आप दोनों अभी-अभी तीसरी बार मेरे गृह में नहीं पधारे हैं ?'

'निश्चय ही तुम्हारी आंखों ने घोखा खाया है, माता हम दोनों तो पहली ही बार घाये हैं ।'

मुनिद्वय का यह उत्तर सुनकर देवकी रानी भौचककी-सी रह गई । यह कैसा घोखा है ? क्या ये मुनि मोदक के लिये असत्य-भाषण भी कर सकते हैं ? किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है कि भगवान नेमिनाथ के साम्निध्य में रहने वाले मुनि ऐसा कर सकें ।

देवकी को विचारमग्न देख उन मुनिद्वय ने पूछा—

'क्या माता, हमारे जैसी ही प्राकृति वाले अन्य मुनि भी पहले यहाँ घाये थे ?'

'तो क्या ठीक आप जैसी प्राकृति वाले अन्य मुनि भी हैं ?'

'हाँ माता, हम एक-सी प्राकृति वाले छह भाई थे और एही भाइयों ने भगवान के पास दीक्षा ग्रहण कर ली । दो-दो मुनियों के हमारे तीन सिपाहे (समूह) भिक्षा लाने हेतु बनाये गये थे । आपसे बटने से ऐसा पता चलता है कि संयोग से चलन-चलन तीनों सिपाहे आपके यहाँ भिक्षार्थ चले घाये हैं ।'

'मुनिद्वय, तब ठीक ऐसा ही हुआ है । मुझ पापिनी ने अपने मन में आपके साधु-प्राचार के प्रति शका पैदा की—उसके लिये आप मुझे क्षमा करें ।'

'क्षमा का इसमें कोई प्रश्न नहीं । यह तो तुम्हारी जागरूकता है और ऐसी जागरूकता सदगुरुद्वयों ने हीनी है, तब साधु का जीवन अपिब पवित्र बना रहता है ।'

‘जीवन और रूप के मोह को छोड़कर आपने दीक्षा ग्रहण की—आप धन्य हैं और आपकी माता धन्य हैं जिन्होंने अपने छह-छह एक-से स्वरूपवान् लाडलो का मोह छोड़ दिया ।’

‘जीवन को ऊपर नहीं उठाया तो इस मानव-जीवन का धर्म ही क्या है, माता ?’—मुनियों ने सारभूत तत्त्व का उच्चारण किया ।

मुनिद्वय का तीसरा सिंघाडा आहार लेकर चला गया किन्तु देवकी रानी का मातृहृदय स्नेह और विस्मय में डूब गया । ऐसे भय छह-छह सुपुत्र किसके हैं—किस भाग्यवती माँ ने इन्हे अपनी बोदी में खिलाया और कैसे उन्हे भगवान की भोली में डाल दिया—यह जानने के लिये उसका मन उतावला हो गया और यह जानने के लिये भी कि उन्हे देखकर उसका मातृहृदय क्यों ची-ची उछाले ले रहा है ?

वह भगवान नेमिनाथ के पास पहुँच गई ।

×

×

×

‘देवकी, तुम कुछ जानकारी पाने की जिज्ञासा लेकर सतावनेपन में मेरे पास आई हो ?’

मन-मन की बात जानने वाले भगवान ने देवकी को पहले ही पूछ लिया ।

देवकी ने श्रद्धामरे कंठ से कहा—

‘हाँ प्रभु, आपसे कहा क्या थिया रहता है ?’

‘तो सुनो, ये छह मुनि तुम्हारे ही पुत्र हैं । ये कहाँ और

किन्तु ममतामयी माँ की गोद में बड़े हुए, यह वृत्त रहस्यमय है । मद्दिलपुर नगर में नाग गाथापति की धर्मपत्नी सुलसा ऐसी वध्या थी, जिसके मरी हुई सन्तानें होती थीं किन्तु उसने हरिणायमेधी देव की प्रार्थना कर सन्तान की कामना की । जिस पर देव ने अपनी माया से तुम्हारे पुत्रों को वहाँ पहुँचा दिया तथा उसके मरे हुए पुत्रों को तुम्हारे यहाँ, जो कस के हाथों में पड़े । इस तरह तुम अपने ही पुत्रों को नहीं जान सकी थी, देवकी ।'

भगवान् से यह तप्य सुनते ही देवकी हृष-विषाद के दोहरे आवेग में भूल उठी । 'ये मेरे ही पुत्र हैं'—एक ओर ऐसे हृष ने उसकी स्नेहसिक्तता को दिगलित कर दिया, तो दूसरी ओर विषाद के तेज घन्घट ने उसके मन को ऐसा क्षत-विक्षत बना दिया कि वह दुःख में भूरती हुई बावली-सी बन गई ।

वह अपने आवेग को न रोक सकी, सहसा उसके मुँह से निकल पड़ा, 'हा भगवन् ! मैं कैसी हतभागिनी हूँ, जिन्होंने सात पुत्रों को जन्म दिया किन्तु किसी की बाल-लीला न देख सकी । यह पुत्रों का तो ज्ञान ही आज हुआ और सातवें पुत्र कृष्ण को गोपुल में यणोदा ने दबा किया । क्या यह मेरा भीषण दुर्भाग्य नहीं है कि मैं माँ बनकर भी माँ न हो सकी ?'

'इसे दुर्भाग्य क्यों कहती हो देवकी, यह तो तुम्हारा सीमान्त है जो तुम्हारे पुत्र साधु बनकर स्व-पर के बल्याण में लगे हुए हैं । यह तुम्हारी ममता बोल रही है, सन्मति नहीं ।' भगवान् ने देवकी को तपस्वी सात्वतना दी ।

'आपके अपने स्वयं हैं भगवन् किन्तु माँ की ममता भी स्वयं नहीं होती और जब माँ की ममता न मिले तो लम्बी बरसात कितनी दिग्म होती है ?' देवकी के नेत्रों से दक्षिण की

घारा बह रही थी ।

कर्म-सिद्धान्त का रहस्य समझाकर प्रभु ने उसे सांत्वना दी और देवकी रानी 'जय हो, मभवन् !' कहती हुई भूरती-गुलकती अपने महल में लौट आई ।

×

×

✕

कृष्ण महाराज ने अपने छोटे भाई के जन्म पर ऐसा उत्सव मनाया जैसा राज्य में पहले कभी नहीं मनाया गया । देवकी रानी तो इतनी हर्ष-विभोर हो रही थी कि जैसे उसने भव सब कुछ पा लिया हो । वह भय घुटनों से चमने, तुतगा-तुतगा कर बचने आदि की अमर्य बाल-लीलाओं का आनन्द लेगी तो उसका मानृत्व सफल हो जायेगा ।

नवजात शिशु का नाम गजसुकमाल (गजसुकुमार) रखा गया । कितने लाल-प्यार से गजसुकमाल का लालन-पालन और शिक्षा-संस्कार हुआ होगा—इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है । वसुदेव के प्यार, देवकी के दुलार और कृष्ण की मंगलभागनाओं के भूले में गजसुकमाल बड़े हुए एक शीलवान और तेजस्वी युवा के रूप में । माता-पिता के ममत्व और भाई के स्नेह ने गजसुकमाल को गृहस्थी के बचनों में बाँध लेना चाहा कि वे अपने छहों भाइयों का अनुसरण न कर सकें ।

'माता जी मैंने सोमिन ब्राह्मण की लडकी को स्वयं देखा है । सोमिन दीन-हीन ब्राह्मण अवश्य है किन्तु उसकी लडकी प्रति नाक्षणिक है एव अपने गजसुकमाल के लिये योग्य है । आप आज्ञा दें तो वाग्दान कर दिया जाये'—कृष्ण ने देवकी रानी से पूछा ।

द्विटा दीन-हीन, सम्पत्तिशाली होने का मेरे मन में कोई

विचार नहीं है। मेरी पुत्रवधू सुशील, सुयोग्य और मेरे गजसुकमाल के मन भा जाये—ऐसी होनी चाहिये।'

'ऐसी ही है वह मा।'

'तो तुम सम्बन्ध पक्का कर लो, पुत्र।' और आज्ञा देकर मा देवकी प्रसन्न हो उठी कि अब किसी भी तरह उनका गजसुकमाल उनकी गोद छोड़ कर मयम की गोद में न जा सकेगा।

×

×

×

'मैंने अभी-अभी सुना है पूज्य भाई साहब कि आप सदल-दल भगवान नेमिनाथ के दर्शन करने पधार रहे हैं। क्या आप अपने छोटे भाई को साथ नहीं ले चलेंगे?'—गजसुकमाल ने कृष्ण महाराज से विनय सहित निवेदन किया।

'पथो नहीं गजसुकमाल, क्यों नहीं? तुम तो मेरे परम दास्य हो। यदि तुम्हारी इच्छा है तो अवश्य चलो'—कृष्ण का हृदय क्षणविकृत हुआ किन्तु इनकार भी कैसे किया जा सकता था। भगवान के दर्शन जैसे पवित्र काम के लिये इनकार करना तो और अधिक पांदा पैदा करना था। कृष्ण ने गजसुकमाल को अपने ही हाथी पर अपने साथ दिठाया और अपने साथ भगवान के समद-रण में ले गये।

भगवान की धर्मदेशना चल रही थी -

'हे नन्द जीवो, जीवन धनमगुर है और इसी जीवन में महान् धर्म का उद्घाटन करना है। प्रायुष्य तो पल्प है किन्तु पल्पत धार्मिक-शक्ति को जो मृत्यु से पहले प्रकट कर ले, वह धन्य ही जाता है.

'मत' समय-मात्र का भी प्रमाद मत करो । बीता हुआ एक क्षण भी फिर लौट कर वापिस नहीं आयेगा । उसे व्यर्थ गवां दिया तो वह गया और अगर उसका सदुपयोग कर लिया तो वह जीवन का आदर्श मोती बन जायेगा....

'जीवन में एक-एक क्षण का सदुपयोग करो, जागृक आत्माओ ! अहिंसा, सत्य, अचोप, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह के महा-व्रत धारण कर अपने से सलग्न पापमूल को धो डालो. विचार और आचार को निर्मल बना लो, फिर देखो कैसा असइ, अगर और अनन्त आनन्द तुम्हें प्राप्त होता है ?'

शा-शत आत्माएँ इस उद्बोधन को सुन रही थीं किन्तु सब की विचार-श्रेणियाँ एक नहीं थीं । आत्म-जागरण की त्रिविध अन्तर्धाराएँ सब और बह रही थीं पर राजकुमार गजगुप्त की अन्तर्धारा इतने प्रबल वेग से प्रवाहित हो उठी कि उसने प्यार और दुलार का बन्धन, सुख और ऐश्वर्य का ण्यामोह तथा यौवन की भोग-लिप्सा को एक ही बार में टूट-टूक कर दिया । बाहर धर्मदेशना चलती रही और अन्तर्मन में गजगुप्तमाल के त्याग का रग गहरा होता चला गया ।

मसार जितना भोग की धारा में मुग्न दूढ़ता है, उतना ही वह भटकता जाता है । सुग्न मृग-तृष्णा के रूप में बना रहता है, मिलता नहीं । किन्तु जो अपने जीवन को त्याग की धारा में बहा देता है, उससे जब सुखानुभव शुरु होता है तो वह त्याग के घनत्व के साथ प्रगाढ़ बनता ही जाता है । जब गजगुप्तमान ने सुग्न अभिनाया से अपने आपको त्याग की धारा में डाल दिया तो मना फिर कौनसी शक्ति उन्हें त्यागी बनने से रोक सकती थी ?

'मगधन्, मेरे मन का हृदय न जाने समा क्यों नहीं रहा है ?

मुझे ऐसा लग रहा है कि मैं अपनी आत्मा का चरमवर्त पूरा करने में अब एक पल का भी विलम्ब क्यों करूँ ? मुझे मार्ग दिखाइये प्रभु कि मैं जीवन का समग्र प्राप्य तुरन्त प्राप्त कर लूँ, एक साथ प्राप्त कर लूँ, आज ही प्राप्त कर लूँ.....'

दोषित होने के तुरन्त बाद मुनि गजसुकमाल ने भगवान् नेमिनाथ से सच्चाभिलाषापूर्वक नम्र निवेदन किया ।

'मैं तुम्हारी उत्कृष्ट भावना को समझता हूँ; गजसुकमाल तुम ऐसी ही भवि आत्मा हो.....'

'मुझे ऐसी कठोर साधना का मार्ग दिखाइये भगवान् कि मेरी अभिलाषा और आपकी वाणी दोनों एक साथ फलवती बन जाये । मेरी इस उत्कठा को सफल करें, सर्वज्ञ देव ?' करबद्ध होकर मुनि गजसुकमाल आज्ञार्थ खड़े रहै ।

'गज मुनि, जो आज्ञा मैंने किसी को नहीं दी, वह तुम्हें दे रहा हूँ ।'

'असौम कृपा है भगवन्, आपकी ?'

'यह मेरी कृपा नहीं, तुम्हारी विचारसरणी की परमोत्कृष्टता है ।'

'आज्ञा दें, प्रभु ।'

'नदीक्षित की मैंने दारुधी प्रतिमा (पट्टिमा-कण्ट सान्नी) उत्कृष्ट चरणा) धारण कराने का विधान नहीं किया है, किन्तु मैं तुम्हारी तुरत भावना का देखकर तुम्हें इस प्रतिमा की धारण करने की आज्ञा दे रहा हूँ, गजसुकमाल । तुम आज रात द्वारिका नररी की रमणान-भूमि में प्रतिमा धारण कर आओगे बाबे

तुम्हें सुम्हारा चरम और परम प्राप्त हो जायेगा ।'

प्रभु की आज्ञा या प्रति इहित मन से मुनि गजसुकमाल संव्याकाल में श्मशान-भूमि की ओर चल पड़े ।

❧

×

×

अन्धकार की हल्की-हल्की चादर में श्मशान का दृश्य भयानक बनता जा रहा था । इधर-उधर चिताएँ प्रज्वलित हो रही थीं तो चारों ओर फैले नरमुड और अस्थिपजर एवं ऋण्टी हुए गिद्ध दृश्य की भयकरता को बढ़ा रहे थे । ऐसे ही भीमत्त्व एवं भयावह दृश्य के बीच मुनि गजसुकमाल ने ध्यानस्थ हो प्रतिमा धारण कर ली ।

उस समय पास की ही एक प्रज्वलित चिता की रोशनी सीधी मुनि के मुख पर गिर रही थी और उसमें मुनि की तेजो-मय आकृति और अधिक मथ्य लगने लगी । योग ऐसा बना कि कहीं कार्यवश जाकर सोमिल ब्राह्मण वापस नगरी को श्मशान के पास बाने रास्ते से लौट रहा था तो उसकी दृष्टि अचानक मुनि

जा गिरी । देखते ही वह चौंका कि घटे, मात्र सुनद ही तो कृष्ण ने उसकी पुत्री का गजसुकमाल के लिये वाग्दान लिया है और शाम को ही उनका मर्द तथा उसका होने वाला जर्जर सागु कंठे बन गया है ? अब उसकी पुत्री का क्या होगा ? यह तो घोर विश्वासघात है । सोमिल क्रोध से विक्षिप्त-सा हो गया ।

आमने आकर उसने उल्लंकारा—

'ओ गजसुकमाल, मैं अपनी पुत्री के विवाह की प्रतीक्षा कर रहा था और तुम कायर और मगोडे की तरह सागु बनकर डों

करके यहाँ छिपे हुए हो—लज्जा की बात है। यदि ऐसा ही करना था तो मेरे साथ छल क्यों किया, मेरी पुत्री के साथ संबंध ही निश्चित क्यों किया ? बोलो, घुप क्यों हो ?'

किन्तु मुनि ब्रह्मने के बाद गजसुकमाल क्या बोलते-?, वे तो अपने अन्ततम के ध्यान में डूबे ही रहे—बाहर के अनका-अब सम्बन्ध ही क्या रह गया था ?

'मैं पूछ रहा हूँ और तुम बोलते भी नहीं'। तुम समझते हो कि मैं तुम्हें क्षमा कर दूंगा। तुमने मेरी पुत्री का अविष्य दिगाद दिया है तो मैं तुमसे उसका बदला लेकर रहूँगा। अब भी समय है कि इस ढोंग को छोड़कर अपने सम्बन्ध को निबाँहो, करना मुझसे दुरा दूँधरा न होगा।'—सोमिल ब्राह्मण ने चेतावनी दी, किन्तु मुनि तो अपनी आत्मा की चेतावनी में लगे हुए थे, जो भावना की श्रेष्ठ श्रेणियों में ऊपर और ऊपर उठती ही जा रही थी।

'तो तुम मेरी नहीं सुनोगे, गजसुकमाल ? मत सुनो, मेरे हाथ से बचकर अब तुम कहां जा सकोगे ? चाहे कृष्ण मुझे फाँसी चढ़ा दें, किन्तु मैं तुम्हारे जीवन को जला-जला कर नष्ट करूँगा। याद रहेगा तुम्हें अगले जन्म तक कि मैंने भी बदला लिया था—'

मुनि की मुक्त होने वाली आत्मा न तो अगला जन्म लेने वाली थी और न ही सोमिल के बदले को याद रखने वाली थी, किन्तु सोमिल की पापात्मा उसी समय क्रूर प्रतिशोध के लिये तैयार हो गई।

जब से गौरी हुई चिकनी मिट्टी लाकर पहले सोमिल ने आचार्य मुनि के चिर पर चारों ओर ऊँची-ऊँची पास दीवारें और

कुछ देर तक उसे सुखने दी । फिर वह पास की चिता के एक मिट्टी के पात्र में लाल-लाल अंगारे भर लाया और उस बुष्ट ने वे घषकते अंगारे मुनि के मस्तक पर उडेल दिये ।

वे घषकते अंगारे और सुकुमार गज मुनि के मस्तक पर । कल्पनातीत वेदना का समय था । खोपडी चीभने लगी, किन्तु मुनि टब-से-मंस नहीं हुए । यही उनका परीक्षा-काल था, जिसकी सफलता पर उन्हें अपना चरम और परम प्राप्त करना था । न उन्हें अपने शरीर पर तनिक भी राग हुआ और न लेलमाण भी द्वेष का भाव वे सोमिल ब्राह्मण पर लाये । मरणान्तक पीडा के बावजूद उन्होंने अपने सिर को किञ्चिन्मात्र भी नहीं हिलाया, कारण कि कहीं एकाध अंगारा भी नीचे गिर पडा तो उगधे किसी भी निरपराध प्राणी की व्यर्थ ही हृत्या हो जायेगी अपने प्राणों की रक्षा में अन्य प्राणी का हनन हो जाये—यह न तो वाञ्छनीय है, न करणीय ।

मुनि परम स्थिर एवं शान्त मान थे उग पीडा को मरुते रहे—जैसे यह शरीर उनका है ही नहीं । मन-ही-मन योगिन को अन्यवाद देते रहे कि उसने उनके चरम कल्याण को एकदम निकट ला दिया ।

उन घषकते अंगारों ने एक साथ ही दो कार्य मिद कर दिये । नश्वर शरीर को एक और जटाकर भस्म कर दिया तो दूसरी ओर अनश्वर चान्मा को मुक्ति के अनन्त चानन्द में मदा-पदा के लिये प्रतिष्ठित कर दिया ।

×

×

×

‘प्रभु हमारा गजसुकमाल बहुत ही कोमल था, राज-सुखों में पला था, फिर भी हठ करके उसने दीक्षा ले ली। प्राय कृपा करके बताइये कि उसके साधु जीवन की पहली रात कैसे बीती है ? इसी चिन्ता है तो प्रभातकाल होते न होते हम दौड़े पाये हैं। नवदीक्षित मुनि के हमें दर्शन भी कराइये, भगवन्—वसुदेव, श्रीकृष्ण की ओर कृष्ण धीनों प्रतीक्षातुर हाथ बाधे खड़े थे।

भयमान ने भावोद्रेक में कहा—‘कहाँ हैं मुनि गजसुकमाल, बिहारे में तुम्हें दर्शन कराऊं ? वह तुमसे क्या छूटा, मुझसे भी छूट गया और पहली ही रात्रि में देह और ससार से भी छूट गया है।’ यह सुनकर सभी मौन हो गये थे।

नर्तकी

छुम छन् न् न् न्. छुम छन् न् न् न्.....

कोशा नर्तकी आज पूर्ण मानुष्यता एवं मस्त्रियों की राज्यता के साथ पुष्प-नृत्य कर रही थी—अपने प्रणवको के विनाल बमान रोह में नहीं, केवल अपने प्रेमी स्थूलिभद्र के सामने अपने ही भवन के एकान्त प्रकोष्ठ में । किन्तु स्थूलिभद्र अब वे स्थूलिभद्र नहीं थे जो कोशा के कटाको के घायल हो जायें । वे तो उस दायने को तोड़कर मुनि बन चुके थे और अपने समय व्रत की कठोर कमीटी के लिये ही गुरु-प्राज्ञा से अपनी ही पूर्व प्रेमिका कोशा नांकी के भवन में जानुर्मासि कर ठहरे हुए थे ।

‘प्रिय, तुम्हें यह पुष्प नृत्य तो बहुत ही पसन्द था न ? फिर आज तुम मेरे में मग्न होने की अपेक्षा अपने ही में मग्न क्यों हो ?’ कोशा ने जैसे व्यक्ति नयनों से ही यह कहा हो परन्तु उन नयनों को देखने वाले नयन तो मुंदे हुए थे ।

मुनि स्थूलिभद्र ध्यानस्थ थे, किन्तु कोशा कड़ती ही रही

श्रीजानुर्मासि प्रायाग शुक्ला १४ में कार्तिकी पूर्णिमा तक के चार माह को कहते हैं, जब जैन मुनि विहार नहीं करते एक ही स्थान पर ठहरते हैं ।

अपनी प्रेमव्यथा और बककर चीखती हुई—सी बोली—

‘क्या तुम अपनी कोशा से एक शब्द भी नहीं बोलना चाहते ?
देखो तो—तुम्हारी देखी ने मुझे कैसा बेहाल बना-दिया-है?’

तब मुनि ने नेत्र-खोले और शान्त स्वर में बोले—

‘कोशा, इस छिछले मोह के घेरे को काट कर सारे जगत् से प्रेम करना सीखो और फिर देखो—जीवन में कितना आनन्द आता है, जब वह नैतिकता का जीवन बन जाता है.....’

और स्थूलिभद्र मुनि के उपदेश एवं समागम से कोशा नतंकी, नतंकी न रही, एक साधिका (श्राधिका) बन गई ।

×

×

×

‘गुरुदेव, आपकी आज्ञा का मैंने सर्वांशतः पालन किया है और मेरा मन्त्र विचार है कि इस अनुकूल आपदा में भी मैं स्थिर रह सका हूँ—स्थूलिभद्र ने चातुर्मास समाप्ति पर गुरु के सखिकट पदच करदण्ड होकर निवेदन किया ।

गुरु अपने स्थूलिभद्र को जानते थे, वे गदगद होकर बोले—

‘क्षिप्य तेरी साधना पर मुझे गर्व है।’

गुरु के ऐसा बहते ही अन्य शिष्य विशालभद्र इत्यादि बस कर चीख उठा—

‘एक बदला नतंकी के यहाँ चातुर्मास कर स्थूलिभद्र तो आपके गर्व का कारण हो गया और बदर सिंही के बाले नानों की रोइया ही भी शान्त कर देने वाला मैं कुछ भी नहीं ।’

गुरु ने शान्ति तथा दृढता से कहा—

‘हां, कुछ भी नहीं । प्रतिकूल से अनुकूल घापदा पर विजय पाना अधिक कठिन होता है ।’

‘आगामी चातुर्मास में भी किसी नर्तकी के भजन में करके दिखला दूंगा’—कहता हुआ मुनि विशालभद्र वहां से सरोप चला गया ।

×

×

×

‘नर्तकी, हम तुम्हारे भवन में चातुर्मास करने की आज्ञा चाहते हैं ।’

सयोग से मुनि विशालभद्र आगामी चातुर्मास के प्रारम्भ पर कोशा के ही भवन पर चले गये । कोशा को कुछ अनुमान हुआ, कुछ नहीं—किन्तु मुनि के मुख पर विची प्रसिमान की रंगारों ने कोशा को भी बठोर बना दिया ।

‘घापका चातुर्मास और मरे भवन में ? मरा भवन एक की का भवन है, वासना का गृह है, मुनि !’—कोशा ने कुछ उत्तेजित होकर कहा ।

‘यही तो कारण है कि मैंने यहां चातुर्मास करने का निराप किया है, ताकि मरे गुरु को ज्ञात हो सके कि मुनि विशालभद्र वासना के गृह में भी वासना से कैसे विरक्त रहा ?’

‘यह सत्य होगा, किन्तु वारांगना की वासना के प्रलय अन्ध के बीच घाप म्यिर तो रह सकेंगे, मुनि ?’

‘तुम मेरा प्रपमान कर रही हो, नर्तकी—क्योंकि मेरी शक्ति

से परिचित नहीं हो । दहाडते हुए बवंर सिंह घोर फुफकराते हुए
 बाने नाग जिसकी ध्यान-मुद्रा के प्रागे शान्त हो जाते हैं, फिर तुम
 तो एक दुबली-पतली घबला हो । तुमने भी अस्थिर हो जाऊँगा
 मैं ।' घोर मुनि ठठाकर हस्त पडे ।

प्रापको मेरा शारीरिक ढाँचा भयभीत नहीं कर सकता किन्तु
 पासना की ज्वाला मे शान्त रहना सरल नहीं है मुनि ।'

'बया मैं त्यागी नहीं, नतकी ? मैंने वासना को भस्मीभूत
 कर दिया है । वासना की पुतली को प्रतिक्षण वासना का ही
 पान रहता है और वह दूसरों मे भी अपनी ही वृत्ति के अनुरूप
 कल्पना किया करती है ।'

'तो घाश्ये, मुनि. '

जो खय नतिकता की मजिल की ओर अपने कदम बढ़ा
 चुकी थी उस कोला का मुनि विणाखभद्र की दतनी कठोर जाँच
 करना रदाभादिक ही था ।

×

×

×

परंपरात्रि में वीणा की मधुर भाँकार पर कोला गा रही थी
 एक प्रेमगीत अपने लिये नहीं, परीक्षा के लिये । स्तब्ध चातावरण
 में यह गीत गुजरित होकर माधुर्य रस बरसा रहा था जैसे रुपहले
 हाथर में रस की तरी पर दँठ कर कोई रस की मदिरा रूप के
 हाथरों पर लहेल रही हो—

प्रेम हिलोसे भूल, शिष्यतम ।

हो क्षण का यह रसमय बीदन,

मही मृत्यु का फिर प्रालिगन,
मस्ती को मत भूल, प्रियतम—
कोमल देह, प्रेममय चितवन,
शीत चांदनी, मुकुलित मधुवन
सुरमित फूले फूल, प्रियतम—

सारे वायुमण्डल में एक अद्भुत आकर्षण व्याप्त हो रहा था।
कोशा के शयनकक्ष से निकली ध्वनि सब ओर तहुरा रही थी।

अपने कक्ष में मुनि विशाखभद्र ने इस गीत को सुना और
तुरन्त त्याग के अपने घमण्ड से वे कोधित हो उठे। तब वही से
उठकर उसी समय कोशा के शयनगृह के बाहर आकर घुग्गापूर्वक
वे व्याख्यान देने लगे—

‘नतंकी, क्या एक मास का हमारा पतिव्रत सम्पन्न तुझ पर
कुछ भी असर नहीं डाल सका ? याद रख—याचना मानन—जीवन
के पतन का यह गहुरा गूढ़ है जिसमें गिरकर मनुष्य अपने पापको
हमेशा के लिए खो बैठता है . .

‘सौन्दर्य के प्रतिमान में डूबी हुई नतंकी, आज का रगमग
जीवन कल नीरस हो जायेगा, आज की मस्ती कल की रोदना में
पूट पड़ेगी, आज की कामन देश कल प्रमित सार शून्य हो जायेगी
और आज का यह मदमाना यौवन कल जंजरें वृद्धत्व के रूप में
बदल जायेगा

‘नतंकी, जीवन के इन अमृत-प क्षणों को प्रेम-गीता में न
न कर, आत्मिक-साधना में व्यतीत कर। त्याग ही जीवन का
सत्यतः मार्ग है।’

कोशा ने नम्रगण वीणा को अलग हटाकर बड़ी ही सदासी
और वितम्रता से क्षमा के स्वर में कक्षा—

‘मैंने भूल की है, क्षमा करें मुनि आपके संयम में विघ्न
 टूटा, मुझे भी चेतना मिली। भविष्य में ऐसा कभी नहीं
 होगा, देव !’

×

×

×

परन्तु अपने कक्ष में जाने पर मुनि को पुनः निद्रा नहीं प्रा
 ष्ठी। तब अपने ही रोष की प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई।

‘मैं कितना निष्ठुर हूँ ? मैंने यह क्या किया ? कोशा के
 पानन्द का विघ्न मैं क्यों बना ? कितनी सुन्दर लगती थी जब
 पर था रही थी। एक निराला ही मधुर रसस्रोत-सा प्रवाहित
 हो रहा था। वीणा के तार दिल को कपा देने वाले थे। पानन्द
 का अनिर्वचनीय रस टपक रहा था’

‘सचमुच ही मैंने निर्दयता की है कोशा के साथ....मुझे क्या
 अधिकार था उसके ही भवन में उसकी प्रवृत्ति पर रोक लगाने
 का ? मैं अभी ही जाता हूँ और उससे इस अभद्रता के लिए क्षमा
 मागता हूँ। वह क्षम्य ही मुझे क्षमा कर देगी। जब मैं क्रोध
 की धारा में जला जा रहा था तब भी कितनी सरलता खेल रही
 थी उसके मुख पर। . . .’

मुनि दिशाखभद्र उठे और कोशा के शयन-कक्ष की ओर
 दृष्ट करे। तार पर जाकर रुक गये। निश्चिन्त हो कोशा सो गई
 थी। उसके मुख पर खिष्टकी से छाता चन्द्रमा का धवल प्रकाश
 किरणें रहा था। उस शुभ ज्योत्स्ना में उसका रूप और अधिक
 चमक रहा था। यथायथ देखने वाला फर्क मालूम नहीं कर सकता
 था कि प्रकाश की किरणें चन्द्रमा से प्रा रही हैं या कोशा के
 रूप-रस से ही तारी ओर बिखर रही हैं !

मुनि द्वार पर ही यह सब देखकर ठिठक गये—देखते रहे ।
 सोचा, जगा दूँ, किन्तु उस मोहक दृश्य को देखते रहने की व्याप्त
 मे वे ऐसा न कर सके ।

अचानक कोशा ने करवट बदली । मुनि चमक गये और
 शीघ्र ही दवे पाँव अपने कक्ष में वापस आ गये ।

विशाखमद्र का दिल उनके वश के बाहर होता जा रहा
 था । चिन्तन ने मोड़ लिया, यौवन और सगर की वास्तविक
 सुन्दरता को छोड़ आत्मा के नाट्यनिक सौन्दर्य की भाषा में त्याग
 की माधना के पीछे भटकना पागलपन है । आज के प्राप्त सुग
 की उल्लास करके कृष्ण के अत्यक्त सुग की गोम में प्रमत्ता मत्पुत्र
 की मूर्खता है । यौवन रसमय जीवन मग्नी और उमका उपयोग
 करने के लिये कोमल देह, प्रेममय चित्तवा, और उमके सतीतक
 शीतल चादनी, मिले हुए मदमाते फूल और इस ममम बहकर पेम
 का मधुरतम आयु—प्रियतम का आह्वान ! ..

अनुपलता के अभाव में मुनि विशाखमद्र की सर्पों में दही
 हुई वाग्मना की ज्वाला आज अनुपलता में भमक उठी थी । मुनि
 पति व्याकुल होने लगे ।

✕

✕

✕

लिये । दिन बीता, संध्या आई और आखिर मुनि की इच्छित रात्रि ने भी अपनी आधिपत्य जमाया । तब दिन भर का श्रान्त शरीर निद्रा की गोद में चला गया—कोशा भी श्रान्त जगत की ही सदस्य थी, वह भी सो गई । जगत् के प्राकृतिक क्रम से बाहर निकले हुए ये मुनि विशाखभद्र—जो जाग रहे थे । अतृप्ति की व्यास उन्हें भ्रूणभोर रही थी । अतृप्त के मन को शान्ति कहां ? यौवन, रूप, चांदनी और मस्तीभरा समागम ...मुनि बुरी तरह से बहक गये । वे बेचैन होकर रुपहली रात के मध्य का इन्तजार करने लगे ।

अपरात्रि के समय मुनि उठे और कोशा के शयनगृह में प्रविष्ट हो गये । विगत रात्रि बगला ही दृश्य था—चांदनी में चमकता हुआ चांदी-सा मुखड़ा । मुनि उसे अपलक देखते रहे—आखिर अपने आपको वे समान न सके । उसके पास पलंग पर बैठकर उन्होंने नर्तकी का हाथ अपने हाथ में ले लिया । हाथ का छूना था कि कोशा चौक पड़ी ।

‘कोशा, प्रिय कोशा ! मुनि विशाखभद्र हाथ को सहलाते हुए कहलाते-से बोले ।

‘कौन ? आप मुनि . ?’

‘सुंदरी, सब मुनि मत कहो मुझे । अब मैं तुम्हारा प्रेमी बनकर उपस्थित हूँ । तुमसे प्रेम की भीख चाहता हूँ, नर्तकी !’

कोशा आश्चर्य में लड़ी लड़की-बहकी रह गई थी । फिर नी सदस्य शरीर में उठने कहा—

‘यह मैं क्या देख रही हूँ, मुनि ? इस ही रात और आज ही रात में इतना भयानक परिवर्तन ? क्या तुम्हारे न्यार की यही

गहराई है ? मैंने तो तुमसे बहुत कुछ सीखने की भाशा की थी, विशाखमद्र !'

'त्याग ! हं ..ह मैं झम मैं था कोशा ! संसार का लीला-जायता सुख छोड़कर मैं पागलपन में भटक रहा था—न जाने कैसे काल्पनिक आनन्द के लिये ? तुम्हीं ने तो मुझे सिखाया है कोशा कि यह जीवन और सो-चयं और दोनों की पतिमा तुम—कितने सुन्दर हैं ये सब ! मैंने जीवन के इस कम को बदल डालने का निश्चय कर लिया है, प्रिये !'

'मुनि, दहाड़ते हुए सिद्धों और फुफकारते हुए नागों के सामने घड़िग रहने वाले मुनि, क्या वास्तव में तुम एक दुबली-पतली बच्चा से ही डिग गये और उस भवता में जो स्वयं मन त्यागमय जीवन बिता रही है ?'

'तो मैं तुम्हें भी कहना हूँ, कोशा—तुम भी त्याग के योग्य हैं हो । छोड़ दो इंसानों, आसो मसार के उन्मुक्त आनन्द-भोग में हम दोनों रमण करें ।'

मनि विशाखमद्र अत्यधिक उत्तर्जित अवस्था में थे । उनके पर वासना का भूत मबार था । कोशा को लगा कि वे कहीं गलत ही कुचेष्टा न कर दें, अपने मन की स्थिति में भी गहराई में बचने का प्रयास किया ।

कोशा ने अपने वाद्वरी प्रभाव का कारण रखते हुए कहा—

'टहर नासो विशाखमद्र, मैं तुमसे एक बात पूछना चाहती हूँ ।'

'बढ़ क्या ?'

'क्या तुम मज्जमूत्र मुझमें प्रेम करते लगे हो ? घबराता क्या है कपट, जान और वासना का सेन है, तुम्हारा प्रेम ?'

मुनि अब मुनि कहाँ रह गये हैं ? वे तो निगोड़ी वासना के दास बन गये थे । चाटुकारिता की धावाज में उन्होंने मिष्ट घोर शिष्ट बनकर कहा—

‘कोशा, मैंने तो अपना समूचा हृदय ही तुम्हें दे दिया है । अब तो इतनी क्रूर न बनो ।’

‘तो मैं इसकी परीक्षा करूँगी और उसमें उत्तीर्ण होने पर ही तुम्हें मुझसे प्रेम करने का मुक्त अधिकार होगा ।’

‘इसके लिये मैं तैयार हूँ, कोशा !’

‘मुझे एक रत्नकम्बल की बड़ी चाह है । यहाँ से सी कोस की दूरी पर नेपाल का राजा प्रातःकाल याचकों को पैदा ही रत्नकम्बल दान में देता है । क्या वह ला सकते हो, तुम मेरे लिये ?’

‘मैं अपनी श्रिया की पहली इच्छा पहले पूरी करूँगी— और विद्याखम्बर ने रात्रि के इस निविद घण्टिकार में ही नेपाल के लिये प्रस्थान कर दिया ।

×

×

×

पहाड़ी के उब किनारे दिन भर का बका सूरज स्तब्ध निरस्तेज होता हुआ टूटा जा रहा था, तभी इस किनारे विद्याखम्बर की हँसी, कटीले रास्ते और भीषण प्राकृतिक घापदाओं की सतत बरसे एक गाह के अपने एक धर्म रूप रत्न-कम्बल को अपने कौल में दबाये तीव्र कदमों से चल रहे थे । कोला को पाने के लिए अक्षीर बने विद्याखम्बर को तभी रात्रि के घटाटोप अघकार में रोष दिया । उनके और कोशा के बीच वह रात्रि जैसे अनेक

दीवार बनकर खड़ी हो गई ।

विवश हो विशाखभद्र ने उसी घाटी में रात बिताने का निश्चय किया, ताकि प्रात होते ही वे शीघ्र सपनी रूप की राती के चरणों में नम्र सेवक की तरह रत्नकमल की भेंट अर्पित कर सकें । एक चट्टान पर रत्नकमल को सिरहाने देकर ज्यों ही विशाखभद्र लेटे, गहरी थकान ने उन्हें तुरन्त निद्रा की गोती में ढकेल दिया ।

निद्रा की वह गोदी क्या थी—वस वे सपनी कोशा के साथ झठमेनिधा करने लगे । स्वप्निल सवार में उन्होंने देखा—वे कोशा की सुसोमन जथा का तकिया बनाकर लेटे-लेटे भेमकी मोड़ी मोड़ी बातें कर रहे हैं और उन्होंने सोचा—यह मधुर सहनाम नस इयी तरह चला रहा । तभी बाहर के संसार में पनरी आशाओं पर कुठाराघात करने एक घोर आया—उगने भीरे में रत्नकमल का उनके मिर के नीचे से निकाला और उगे चुग कर भाग गया ।

अज्ञानक विशाखभद्र को ऐसा लगा—भँधे काशा ने सपनी जथा उनके मिर के नीचे से हटा ली ही और उनका मिर नीचे लड़क गया है । तुरन्त ही वे हतबला कर उठ बैठे । ऐसा क्या

कि सपने का आघात अगनी का आघात बन गया है । वे एकदम मतिमूढ़-से हो गये किन्तु बाधनानुरता ने मिर भी उन्हें निराशा का पन्ना नहीं परचन दिया । वे आज अज्ञानक मिर नेपाल की धार चन पड़े ।

×

×

×

‘हा कोशा, मैं घा ही गया हू । कितनी कठिनाइयाँ घाईं
किन्तु कोशा के नाम से ही सब कटती गईं । एक पल भी तो मैं
तुम्हें नहीं भूल सका हू, मेरे प्रिये—यह लो तुम्हारा प्यारा रत्न-
बम्बल—घोर विशाखमद्र ने अपनी काँख से चमचमाता रत्नकम्बल
निवाल कर कोशा के हाथों में घमा दिया ।

‘ठहरो, पहले मैं स्नान कर लेती हू’—यह कहकर कोशा ने
रत्नबम्बल पुन विशाखमद्र के हाथों में दे दिया और स्वयं स्नान
करने भीतर चली गई ।

स्नानोपरान्त कोशा ने विशाखमद्र के हाथों से उस रत्न-
कम्बल को लिया और उनके देखते-देखते उसने अपने पाँव पीछे
पर कोशा ने रत्नकम्बल को बाहर नाली के कीचड़ में फेंक दिया ।

विशाखमद्र को काटो तो खून नहीं । वे अमित-से हो गये
कि कोशा ने यह क्या कर डाला ? रोप से भरकर वे कठोर स्वर
में बोले—

‘कोशा, यह क्या कर डाला तुमने ? बीहड़ दन, नदी, घाटी
और पर्वतों के महीनों के मेरे रोमांचक कण्ठों के फल का तुमने
ऐसा दुरूपयोग किया, यह क्या मेरे प्रेम का अपमान नहीं है ?’

‘रत्नकम्बल के तनिव-से परिधम का हडा रयाल प्राया
तुम्हें मुनि और हयों की कठोरतम साधना को एक पल भर में
भरत करने की रपठा करते हुए तुम्हें पल भर के लिए नी दिखार
नहीं प्राया ? मुनि, त्याग का रहस्य हृदय की छान्तरिक भावनाओं
के निहित होता है, वेदल मुनिदेश धारण कर लेने मात्र ही कोई
त्यागी नहीं हो सकता.

‘मुनि विशाखमद्र, कहा मैं दाहना की पुन्ली कहलावे

नर्तकी और कहीं तुम त्याग की मूर्ति कहलाने वाले मुनि ? अपने स्वरूप की ओर एक बार निहारो तो सही

‘मनुष्य जीवन प्राप्ति नहीं और उसमें त्याग की तापता प्राप्ति नहीं । मेरा नम्र निवेदन है, कि मुनि एक बार फिर मे अपने अतीत में प्रवेश कर जाओ और उन बीते हुए वर्षों को फिर न बनाओ... .’

मुनि विशालमद्र के ज्ञानतुषो पर जैसे एक मार्गक चोट लगी । वे नर्तकी की प्रेरणा में तो गये कि वे कहीं गे गिरे, कौसे गिरे और गिर कर किस रसातल तक पडुच गये हैं ?

एक बार गहरे गिर कर भी जिनका चैतन्य पुन नीरु प्राण—उसी को कहते हैं कि सुनह का मरका कम-मे-कम भाग को घर लोट तो प्राया । कोशा की लवकार ने मुनि विशालमद्र को फिर मुनि बना दिया । भावविज्ञानता से उनक नेपो मे पाप-शिवल के प्रांगू भर-भर गिरने लग । कोई शब्द उनके मुह मे निश्चात सके, ऐसी उनकी मानसिक प्रस्था नहीं रही ।

तभी कोशा के मुख से निकला—

‘मुनि, शायद आप जानते है या नहीं, किन्तु आज मैं मुनि की महानता मेरे लिए और भी ऊंची हा गई है । व पण है—असाध्य है ।’

स्यूलिमद्र का नाम—एक क्षण के लिये विशालमद्र गई, किन्तु उनकी वासना के साथ उनका को और सान भी रह गया बा । फिर भी लज्जा से धारक हो सट्ट उतरना मे ने बी—

‘तुम स्यूलिमद्र का कैसे जानती हो ?’

'पहले मैं उनकी प्रेमिका थी और उनके मुनि बनने के बाद गत चातुर्मास से उनकी शिष्या हूँ—यह कहते हुए कोशा के मुख पर आत्मानन्द की तरल धामा खेल रही थी ।

पांसू भरी पांखों और रुंधे हुए कठ से मुनि विशाखमद्र ने धीरे से दृष्टना ही कहा—

'तो तुम मुझे अपना शिष्य बना लो कोशा, ताकि मुनि रघूलिमद्र की शिष्या का शिष्य होकर सच्चा प्रायश्चित्त कर सकूँ । आज मैं समझता हूँ—नैतिकता किसी की याती नहीं, मन की शुद्ध भावनाओं की सहेली होती है ।'

सौन्दर्य-दर्शन

अभिमान वह विकार होता है, जो मनुष्य को बहुरूपी भाविकता से हटा कर कुण्ठित बना देता है। जहाँ कुण्ठिता होती है, प्राकृतिक सरलता नष्ट हो जाती है। सरलता नहीं तो मन्वी सुन्दरता भी नहीं। आकर्षण सच्ची सुन्दरता का होता है और अभिमान ऐसे आकर्षण का शत्रु है।

सोममैत्र अगनी सुवर्जित परिवर् में सोमार्थ एव देहान्ति के प्रसंग में सनत्कुमार चक्रवर्ती की अतीव प्रशंसा करने हुए सोचते कि उतनी देहिता प्रान्ति इतनी स्थिर है जिससे सामने देखे का रूप भी फीका लगता है।

बुद्ध देवों को यह प्रशंसा अतिशय मान्य हुई और उनमें से एक देव स्विति का निरीक्षण करने के लिये माया रूप धरकर स्वयं ही चल पड़ा।

×

×

×

एक वृद्ध द्राक्ष्यण सनत्कुमार चक्रवर्ती की राजधानी की ओर जाने वाले पथ पर निरन्तर घाते बना रहा था। चक्रवर्ती चलते-चलते कदम उठाने लगे, फिर भी एक घटसुत उभरकरा और

इसे घागे और घागे खींचे चली जा रही थी। गति में शिथिलता नकल सकती थी मगर वृद्ध के मन में घमित उत्साह भरा हुआ था। घागें घन्दर घस रही थीं—घपराने—सी लगी थीं, परन्तु जैसे उन गहरे गड्ढों से निकल कर एक नई घाशा की नई रोशनी घष को प्रकाशित करती चली जा रही थी।

चक्रवर्ती मनस्कुमार के राजघ्रासाद पर खडा हुआ द्वारपाल दूर से घाते हुए उस वृद्ध को देखकर यह नही समझ सका कि किस घाशा ने इस घतिशय वृद्ध शरीर मे भी गति और शक्ति की ऐसी तेज विजली भर दी है ?

‘क्यों भाई, चक्रवर्ती मनस्कुमार के राजघ्रासाद ये ही हैं’—घाफते हुए उस वृद्ध घ्राह्यण ने द्वारपाल से पूछा।

‘हा, उनका राजघ्रासाद तो यही है, परन्तु क्या मैं घ्राफते एक घात पूछ सकता हूँ ?’—द्वारपाल घषने कौतूहल को दबा न सका।

‘क्यों नही, घषष्य पूछो’—वृद्ध के घषघने मुह पर तरल शरधान खेल रही थी।

‘घ्राफका यह वृद्ध एक दुबल घात—घ्राफके ये घति जीर्ण—मीण घषष एक घादघ्राण बतला रहे हैं कि घ्राफ कही बहत दूर से घा रहे हैं, घल्लदेद।’

‘भाई दूर ही नहीं, दही दूर है’—वृद्ध ने यह कहकर ऐसा निघास रोषा जैसे घद घलने के घुड़ी घाकर उनके मन ने एक घात की रास की थी।

‘हद घ्राफने घषघी यह घात कद और क्यो घ्राघ्न की थी’—द्वारपाल ने पूछा।

'मैंने अपनी यह यात्रा कब प्रारम्भ की—तुन पूजा तुमो भी'—घोर वृद्ध जैसे अपने पतीत में खो गया और उसी लोभे हुए अनुभव से उसने धीरे-धीरे कहना शुरू किया—

'मेरी यात्रा की सब तो एक कहानी ही हो गई है। इतना लम्बा भसाँ बीत गया है इस यात्रा को शुरू किये कि हकीकत में यह कहानी ही हो गई है

'जब मैंने अपनी यौवन की देहरी पर अपना पाँव रखा ही था—नई बहारेँ देगी नहीं थीं, तभी मैंने एकवर्ती मन्तरकुमार^(१) के अनुभव शौन्दर्य की कीर्ति सुनी। लोगों ने बताया कि ऐसी मुन्दरता आज तक किसी ने नहीं देखी—पहल शक्तिशाली है, दर्शनीय है ...

'बस, गुरन्त ही मेरे शौन्दर्य के दर्शन की मेरी पक्कज प्रति उष बत गई और मैं उसके हेतु पर से निकल पड़ा। अज्ञान तथा जा—तभी मे मैं पत्र रखा हूँ—तरावर जब रखा हूँ—पगो उम्मुतना में कि गागी दूरियो का पर एक दिन मैं समझा गो शौन्दर्य के अवश्य कर सकता। घर तो मैं मरिज पर पनुज गया हूँ, भाई मुझ अविज न तरगाया, भगे मदद करा। एकवर्ती महापण हम तरह निवेदन करा कि वे मुझे अब पर पत्र जो नए दिने बिना अन्दर बुला दें और उनका शौन्दर्य दात करके दे -' उद ने सखमुच ही द्वारपात का हाथ जोड़ दिया।

वृद्ध ब्राह्मण के मृत पर ऐसी आकर्षक चमक थी जैसे पत्थर प्राप्त होने पर कट्टी चिना के मृत की छात्रा पर चमक चमक उठती है और ऐसी ही अन्धकारी कि तबु अब पक्क ज्ञान भी दण

शिवशक्ति का आधुनिक आचार्य आता है कट्टी बना माता

मया है।

नहीं सकेगा । उसे देखकर द्वारपाल ने भी विलम्ब करना उचित नहीं समझा और वृद्ध के लिये प्रवेशाज्ञा लाने वह तुरन्त भीतर चला गया ।

×

×

×

‘जय हो छ खड के नाथ की—’चक्रवर्ती के प्रथम दर्शन के, साथ ही वृद्ध ब्राह्मण ने जयनाद किया ।

द्वारपाल ने वृद्ध को ठेठ वही पहुँचा दिया था, जहाँ सनसुमार स्नान करने की तैयारी में अपने स्नानागार में बैठे थे । वेदल एक धरप्र लपेट रखा था और शरीर का शेष भाग गुना हुआ था—उस पर किसी किरम की कोई सजावट भी नहीं थी ।

वृद्ध ने ज्यों ही उस सौन्दर्य का प्रथम दर्शन किया, वह तो पंखे गगन ही हो गया । अपलक नेत्रों से वह उस ओर देखता ही रहा—देखता ही रहा । सधी हुई मजर से वह उस सौन्दर्य का स्तूपान करता हुआ ऐसा लग रहा था जैसे वह कल्पना के किसी दूररे ही सखार में रम गया हो । प्रफुल्लवदन वह वृद्ध जैसे पुन अपने यौवन की देहरी पर पहुँच गया और मन ही मन विचार करने लगा, रन्द्र ने जो कुछ कहा वह वस्तु तथ्य है ।

‘वृद्ध, क्या तुम मेरे सौन्दर्य—दर्शन के अभिलाषी होकर आये हो ?’—सनसुमार उस वृद्ध की अतीव प्रफुल्लता से प्रसन्न होकर बोले ।

‘हां राजन्, यह मेरी चिर अभिलाषा थी । अपने ~~अपने~~ यौवन की प्राप्ति देकर भी आज मैं अन्य हो गया हूँ ~~...~~ और वृद्ध ने उत्तर दिया ।

चक्रवर्ती फूले न समाये—प्रमिमान से फूल ही बने । उज्ज्वल-
भाव के साथ उन्होंने कहा—

‘तो अभी क्या देखते हो ? अभी तो मैं शृंगारहीन स्वाना-
गार में बैठा हूँ । मेरा सौन्दर्य ही देतना है तो उस समय प्राणा,
जब मैं अपने सम्पूर्ण शृंगार के साथ राजसभा में सिंहासन पर
बैसीन होऊँ । वीणा की झंकार के बिना गाने में मगुरता नहीं
‘आती, समझें !’

वृद्ध का सपना तो जैसे टूटा ही नहीं, उसने फिर भी
यही कहा—

‘मैं तो प्राणतो इसी क्षण को सुन्दरतम मानता हूँ और
उसे देकर विष्णु के सागर में मैं तो डूब गया हूँ, राजन् !
हृदय में हृषिकेश का प्राण समा नहीं रहा है ।’

वृद्ध तो जैसे निहाल हो रहा था, नुस्तुराता हुआ पाहल
बनने लगा कि इस अपूर्व सौन्दर्य-वर्णन से उसका जीवन का प्राण
अपम सार्थक हो गया है ।

×

/

/

‘वृद्ध, अब देन इस प्रकार, त्रिभुवन के प्राण तुम्हारे ही
सत्कला बना था रहा है । स्वानागार में तो इस सौन्दर्य-
सद्विज्ञान भी नहीं था ।

बनती थी। उभा में घघीनस्य राजा, महाराजा और सामन्त गण चक्रवर्ती के प्रति सम्मान प्रदर्शित करते हुए यथास्थान बैठे हुए थे।

अपनी अपार श्रद्धा एवं अपूर्व ऐश्वर्य के बीच परिपूर्ण शृंगार किये हुए चक्रवर्ती का सौन्दर्य जैसे अब सहस्रगुणित होकर प्रदीप्त हो रहा था। वह सौन्दर्य जैसे देखा ही जा सकता था, देखकर उसे बताना भी शक्य नहीं था।

चक्रवर्ती के सिंहासन के ठीक सामने वह वृद्ध ब्राह्मण खड़ा था। उसने चक्रवर्ती के वचन भी सुने, किन्तु फिर भी वह इस तरह दिचार-मग्न खड़ा रहा जैसे किसी टेढ़े सवाल में फसकर कुछ भूल सा गया हो। उस हजार गुनी सुन्दरता के सामने भी प्रसन्नता ही एक क्षीण रेखा उसकी आकृति पर प्रकट नहीं हुई।

‘अरे वृद्ध, इधर देख, गर्दन झुका कर क्या खड़ा है? तब तुझे समझ में आयेगा कि तेरी सौन्दर्य-दृशन की बिर अभिलाषा स्नायुधर में पूरी नहीं हुई थी—वह अब ही रही है।’ चक्रवर्ती ने भरपूर अभिमान से अपने चेहरे को तान कर फिर कहा।

पर वृद्ध न तो कुछ बोला और न उसने अपनी गर्दन ही एकसुमार ही उस सुन्दरता को देखने के लिये ऊपर उठाई।

‘कहाँ लो गये हो, वृद्ध, क्या बात हो गई? मेरी ओर देखो तो—’

उदास और शान्त क्यों हो गया है ? बोलें—

‘कैसी चिन्ता में डूब गये हो, वृद्ध, तुमने अब हम मो शं-
दर्शन पर अभी तक अपनी कोई सम्मति प्रकट नहीं की—पाणि
क्या हो गया है तुम्हें इस समय ?’ लक्ष्मी के स्वर में अपनी
सुन्दरता की प्रशंसा सुनने की मजबूत आवश्यकता थी ।

‘क्या कहूँ, स्वामी, आपके सौन्दर्य-दर्शन का सच्चा आनंद
तो मैं पहली ही मंटे में पा चुका । अब तो आपकी यह सुन्दरता
विकृत हो चुकी है—मेरे लिये अब इसे देखने में कोई आनंद नहीं
रह गया है । आप मुझे क्षमा करें ।’ वृद्ध ने फिर नीची नजर
कर ली ।

‘क्या कह रहे हो, तुम ?’

‘मैं सिर्फ सत्य को ही प्रकाश में ला रहा हूँ, महाराज,
हममें अत्यन्त कुछ भी नहीं है ।’

‘तुम्हारा सत्य मेरी समझ में नहीं आ सकता है, पर ।’

‘रात्रि, धी घटती है, पौरुषिक है, किंतु कामे के पाप पर
एसे बार-बार धिक्कते से बढ़ी विष बन जाता है ।’

‘क्या यह अनिश्चित है तुम्हारा कि स्यातावाट का नाम सत्य
रूप सौन्दर्य अब विष रूप बन गया है ? मैं जानता था कि
कि वह कामे का पाप क्या है ?’ लक्ष्मी का मुख सचमुच
तनतमा पड़ा ।

‘क्षमा चाहता हूँ, महाराज, बहुत कामे का पाप धारण करने पर
अनिश्चित है । सत्यता और सुन्दरता का सत्य रूप है, पौरुषिक
का नहीं । अनिश्चित उक्त सुन्दरता का विष बन जाता है ।’

'सौन्दर्य की जो सरसता और यथायंता मैंने स्नानागार में देखी थी, वही अब प्रभिमान के दुर्योग से मिथ्या पहकार में बदल कर विकृत हो गई है। शारीरिक सौन्दर्य वैसे ही नाशवान् होता है जो कि दाम्त्व में सौन्दर्य नहीं किन्तु जो भी बाह्य आकर्षण होता है, वह मान से मिलकर मिट्टी बन जाता है। आप कुछ भी समझे, रानागार से लेकर राजसभा तक आपकी सुन्दरता भी इसी प्यास को प्राप्त हो गई है।' वृद्ध एक दार्शनिक की तरह बोल रहा था।

'वृद्ध, तुम जानते हो, यह कहकर तुम मेरे से भी अधिक मेरी सुन्दरता का अपमान कर रहे हो। मैं तुम्हारे कपन का प्रमाण दाखला हूँ।'

'तो प्रमाण भी दूंगा, रवामी।'

वृद्ध ने चक्रवर्ती से पीकदान में धूकने और उसे महादेवों प्रायः परीक्षित कराने का निवेदन किया।

चक्रवर्ती के आश्चर्य और दुःख का पार नहीं रहा जब एक महादेवों ने बताया कि उनके धूक में सोलह महादेवों के पीठाणु पाये गये हैं। अपने शरीर की इस अनोखी सुन्दरता की ऐसी प्यास पर जैसे वे तनिक भी दिग्भ्रम नहीं कर पा रहे थे। दिग्भ्रम की पत्नी दादर के नीचे उनका मान और मन दोनों दब गये। दूट हुए स्वरो मे वे धीरे-धीरे झोलने लगे—

सबका स्वामिमान वह है जो प्रमद गौरव के रूप में बना रहे ।
 मैं अब उसी गौरव को प्राप्त करूँगा ...

‘मिरा गर्व आज लडित हो गया है, पर मुझे एक गर्व राश्ट्र
 मिली है । तुमने मेरी भाँगी तोल दी है, वृद्ध, तुमने मुझे जीवन
 का एक अमूल्य पाठ पढाया है । अपनी सुन्दरता शरीर में नहीं,
 मनुष्य की कृति में है—सहज सरलता में है जो धगर रहती है ।
 यथार्थ में आत्मा का सौन्दर्य ही सपूर्ण और अनश्वर होता है, यही
 वही उत्तमता के योग्य है’

‘वृद्ध, तुम मेरे गुरु हो’

श्रीर सुन्दरतम वृ. लड के नाम का माया नहीं ही सुन्दरता
 से एक पागली वृद्ध के पाँवों में भुंके लगा, क्यों ही लजबर्ती को
 दिखाई दिया कि वृद्ध के स्थान पर देवीपद्मान तपोनि वि स्थापित
 श्वर उन्ही प्रणाम कर रहा है ।

×

×

×

मुनि ने घपने मुह का थूक लेकर घपने शरीर के एक भाग पर मला और उसके मलते ही उतने भाग पर कुण्ठादि सारे रोग समाप्त होकर पल भर में शरीर का वह भाग कचन की तरह पकने लगा । भक्त उसे आश्चर्यान्वित होकर देखना ही रह गया ।

तब मुनि सनत्कुमार ने आगे कहा—

‘छद्दी बात तो यह है कि मैं इन रोगों को ठीक करना नहीं चाहता । मैं इन रोगों की वेदना में मेरे शारीरिक सौन्दर्य के पूर्व अभिमान को पूरी तरह से गला देना चाहता हूँ ताकि अदि-वाणी आत्मिक सौन्दर्य का आवर्भाव हो सके । मैंने यह देस लिया है कि नष्ट पदार्थों पर अभिमान भरा स्वामित्व जतलाने वाले के हाथ कष्ट और परात्ताप के सिवाय कुछ नहीं आता ।’

भक्त अपार अज्ञान से अभिभूत होकर बोला—

‘पर आप कितने कष्टमहिष्णु हैं ? धन्य हो, गुरुदेव !’
और यह सनत्कुमार के चक्रवर्ती हैं मुनि जीवन के आदर्श पर गभीरता से विचार करने लगे ।

'सौन्दर्य-दर्शन जीवन का चरम उद्देश्य होता है और होना चाहिये, परन्तु सत्तार उस सौन्दर्य के स्वरूप को समझने में धन करता है । मन, वाणी और कर्म को सत्य की राह पर चला देना ही वास्तविक सौन्दर्य के निकट पहुँचना है और इस तरह जो वास्तव में सुन्दर है, वही परमानन्द का अनुभव करता है....

'केवल शारीरिक सौन्दर्य पर्वचना है, क्योंकि वह नश्वर है और नश्वर में अनश्वर आनन्द कहां से आयेगा ? यदि अनश्वर आनन्द चाहिये तो फिर अनश्वर आत्मिक सौन्दर्य को ही प्राप्त करना होगा । ऊपर से रोगी और अतीव असुन्दर देह वाला मैं अपने आपकी आत्मिक-सौन्दर्य के समीप गमन करता हुआ अनुभव करता हूँ और यही मेरा सच्चा सौन्दर्य-दर्शन है । सौन्दर्य ज्ञान में नहीं, बल्कि अनुभव की गति में है, देवानुग्रह !'—और मूल का मूलमडन शिष्य नेत्र से चमक उठा था ।

पदाघात

महाराज धोणिक अपने भय भरोसे में बैठे इसी चिन्ता में दूबे हुए थे कि महारानी पारिणी के दोहद (गर्भावस्था की इच्छा) की इस समय में कैसे पूर्ति की जाये ? वैशाख माह की भीषण तापसप्तता और उष्णता में भला मेघाच्छादित गगन से बरसते हुए सूक्ष्म जलकणों में भ्रमण के आनन्दानुभव की इच्छा कैसे पूरी की जा सकती है ? दोहद पूरा न हो—यह भी उचित नहीं, क्योंकि इसका पुप्रभाव माँ और बालक के मानस पर प्रवृत्ति की छाप अकित कर सकता है ।

महाराज कभी प्रखर किरणों से प्रदीप्त उस सूर्य की ओर देखते ही कभी नीचे तपती हुई घूमिल धरती की ओर तदा अन्य-गमक होकर उपाय सोचने में अपेक्ष विचार व्यस्त हो जाते ।

‘महाराज सुख और वैभव से भरे इस राज्य में राज्य के स्वामी ही किसे दिशिष्ट चिन्ता में दूबे हैं ?’ धोणिक के पुत्र तदा राज्य के प्रसन्न अश्वमेध ने ऐसी ही समय इशारा करते विन्मत्त पृष्ठपाद की ।

धोणिक ने उन्हें सुना ही नहीं, दोपहरी के उठ हीक
 भर आकाश को से उठी तरह गहरी चिन्ता से देखने लगे ।

कुमार उद्विग्न हो गये, फिर बोले—

‘आपकी ऐसी गहरी चिन्ता को देखकर मेरा दिल भी व्याकुल हुआ जा रहा है पूज्य !’

श्रेणिक ने एक नजर अभयकुमार के चेहरे पर गयी और अपनी उलझन उनके सामने रखने लगे । सात मिनटों में अभयकुमार ने प्रसन्नतापूर्वक निवेदन किया—

‘पिताजी, आप चिन्तित न हों । मेरे एक मित्र देवता हैं और उनकी माया-महायता से हम भयमय भी भी माया ही पुतारे बरसाकर माया के सेहरे की पूत की ना मरयो ।’

में समा गई थीर विरक्ति के श्रेष्ठ अनुभवों के साथ उन्होंने महावीर के चरणों में ही दीक्षित हो जाने का सकल्प बना लिया ।

धर्म-देशना की समाप्ति के पश्चात् राजकुमार मेघ ने सड़े होकर प्रभु की सेवा में करवद्ध निवेदन किया—

‘प्रभु, मैं अपने सामने सगर की जलती हुई ज्वालामुखी को देख रहा हूँ और उसमें शीतलता के पृथक् प्राप ही हैं । मैं आपके चरणों में दीक्षा लेकर ही अपना प्राण समझ रहा हूँ । मुझे अपने चरणों में छोटी-सी जगह दे दीजिये, भगवन् ।’

महावीर बधा कहते थे अपने ज्ञानालोक में जान रहे थे कि राजकुमार मेघ अपने मानव-जीवन को इसी जन्म में सम्पूर्ण साधक बना देने वाले हैं । उन्होंने मर्यादा की भाषा में कहा—

‘हे देवानुप्रिय, तुम्हें जैसा सुख हो, वैसा करो, किन्तु इसके लिये जो कुछ तुम्हें करना है, उसमें विलम्ब कर्तव्य मत करो ।’

‘पूज्य माताजी, आज मैंने भगवान् महावीर के दर्रांत किये’—
राजकुमार ने महलो में पहुँच कर अपनी माता से निवेदन किया ।

‘किन्तु माताजी, इस पवित्र देह में क्या मैं पधारित माता को कैसे रखूँ ?’

धारिणी ने चौंक कर पूछा—

‘इलका क्या अर्थ है, मेघ ?’

‘मां, मैंने भगवान के चरणों में सीजित हो जाने का निश्चय किया है, जिससे अपनी आत्मा को भी उतनी ही पवित्र बना सकूँ ।’

मां अपने बेटे का मुह ही निहारती रह गई, मगर के अयोग से उसके हृदय में ऐसी भांगी जली कि वह मग्न में चली गिर पड़ी ।

मनुष्य यदि सदा निष्ठा एवं लज्जा का रूप हो पाये किन्तो जो सत्यवृत्ति में मान्य होने का हृदय निश्चय कर लेता है या विश्व ही कोई भी शक्ति उसे अपना विश्वास में दिमा नहीं पासवी । वास्तव में कार्यशक्ति अस्मिन् निश्चय एवं आत्म निश्चय में ही निहित है । मेघनुमार भी इसी परामर्श पर चल रहा था ।

मेघकुमार की अपूर्व हमग को जानकर माता-पिता ने सहृदय
दीक्षा की अनुमति राजकुमार को प्रदान कर दी ।

X

X

X

राज मुनि मेघकुमार की दीक्षा का पहला दिन था । ऋषि-
शास्त्रों की प्रथम क्रियाओं से निवृत्त होकर मुनि-जन अपने-अपने
धर्म की व्यवस्था करने लगे । साधु-धर्म में अब मेघकुमार का
राजकुमार होने के नाते कोई महत्त्व नहीं था । साधु-धर्म में
तो दीक्षा-दृष्टि के अनुसार ही सम्मान का क्रम होता है ।

दीक्षा-दृष्टि का अर्थ होता है गुणों की परिष्कृति । यह
एक ही जीवन ही अथवा साधु का जीवन-कारण में मन या पद
गती, दक्षिण धर्म की उत्तम व्यवस्था ही सर्वे सम्मान की माप-
दण्ड होती चाहिये । गुणपूजा अन्तर्गत की प्रतीक है तो धर्म, प्रतिष्ठा
या शक्तिपूजा अन्तर्गत जाने वाली होती है । यही कारण है कि
साधु-जीवन में सच्ची प्रतिष्ठा योग्यता एवं आदर्श पर आधारित
होती है । मुनि मेघकुमार के लिये भी अब यही कसौटी बन गई थी ।

गुरुद्वारा का क्या खयाल रखा जायेगा ? ऐसी दीक्षा से तो घर पर ही रहना अच्छा था ।

.....घोर भव भी बिगड़ा ही क्या है ? भोर होते ही भगवान् को उनके वस्त्र पात्र सम्भूला कर अपने घर की राह मूंगा—यह गद्गद कुछ महन करना मेरे वंश की बात नहीं है । एतना ही नहीं, मेघकुमार मुनि ने यह भी सोच लिया कि स्वयं भगवान् भी कितना ही समझायें, प्रतिबोध दें तब भी किसी ह्वालात से मैं नहीं मानूंगा और हर तरह से मैं इस कौद से निकल भाऊंगा ।

तनिक से पदाघातो ने मेघकुमार के हृदय की समस्त पूर भावनाएँ पदा दी । उनका चित्त भ्रांत होने लगा । वे एक घोर घतमान पदाघातो के घण्ट को घनघ्न्य मामकार वषापुरा होने लगे तो दुर्गरी घोर घर के समतामय वातावरण की मीठी याद से तन्मने लगे घोर जन-जन प्रकारेण रात्रि के व्यतीत हो जाने की प्रतीक्षा से घातुर हो उठे ।

‘क्यों मेघमुनि, रात्रि के पदाघातो से घहरा कर दीक्षा-व्याग से तनिक भरे सामने उपस्थित हुए हो ?’—भगवान् ने घनीक ही गद्गद स्वर से पूरा ।

मुझ से नहीं निकल सका । तज्ज्रा के आरक्त मुन नीचे झुक गया । भगवान का विरोध करने के विचार तक हम भे उड़ गये । लीनों को हाथ में लिये छात्रु के वस्त्र और पात्र सटकर नीचे गिर पड़े, जैसे शरीर और उसके सारे अंग निष्पाण हुए जाते हों ।

'शान्त होमो मेघ, फण्टसङ्गन आरगा की सखी साधना है । जब तक शरीर का मोह मौजूद रहेगा, आरगा की ओर दृष्टि ही कैसे मुड़ेगी ? शरीर-मुणों को भूगकर ही तो आरगा के धान में रमा जा सकेगा । . . . '

'जरा भे मुनियों के पदागतो में ही तुम भगित हो गये । पड़ो के जग में तुमो दिग मदान् सदागीतवा का भावण किया था, जसो का तुम प्रभाव था कि मुण्दारी गभीरगा में मुण्दारी मरु का शेर पूरा हुआ और तुम में प्रतिक्रिया मया । जरा बड़ा मरु-ममें उमरी प्रण लिया और दान लीं मे कर भे तुम पहरा मों । . . . '

का कारण यह था कि उस वन के सूखे दाँसों वाले क्षेत्र में दवाग्नि लग गई थी और वायु-वेग के साथ वह समूचे वन-प्रान्तर में फैल रही थी। प्राण की चपेट से बचने के लिये प्रत्येक पशु-पक्षी जीतोड़ कोशिश में लगा हुआ था।

मेघकुमार अपने पूर्वजन्म में इस वन के स्वामी गजराज थे। आपात्काल की दृष्टि में रखकर इस हाथी ने उस वन के बीच एक छोटा-सा मैदान पहचाने में साफ करके तैयार रखा था, जहाँ छोटे-बड़े सभी जीव-जन्तु इसी मैदान में अपने आपकी ठूँस रहे थे। यह हाथी भी इसी मैदान में शान्त भाव से पड़ा था। एक चारों पाँवों के बीच और आस-पास दलने छोटे-छोटे पशु जमा हो गये थे कि कहीं तिल रखने तक भी जगह भी नहीं बची थी।

सभी उस हाथी को अपने पैर पर खाज महसूस हुई। बहुत रोसने पर भी जब राज ने जोर लगाया तो उसने रुजमाने के लिये अपना एक पैर उठाया और उससे खाज करनी शुरू की, सभी एक स्थान में एक तरगोण घाकर बैठ गया, जिसे अपनी तरफ़ भी पाल टिकाने की जगह नहीं मिली थी। पैर नीचे रखते समय जब हाथी को वहाँ किसी प्राणी के आकर बैठ जाने का आग्रह हुआ तो उसने अपना पैर पुनः ऊपर उठा लिया।

सरकने लगे और सँझाने वाली होने लगा तब वह परपोषी भी वहाँ से फुदक गया । किन्तु तब तक हाथी का गरीर भरकर यहाँ से दूट चुका था । वह वहीं गिर पड़ा और मर गया, किन्तु मृदा-शीलता की जिस श्रेष्ठ भावना से उसका मन मृत समय में परिपूरित रहा, उसके फलस्वरूप उस हाथी की आत्मा को जो पुण्य का प्रसाद मिला, वह उसका भेषजुमार का जन्म ही तो था ।

X

X

X

भगवान् महावीर ने उद्घोषित किया—

एक पतूठा पुरुषार्थ जागृत हो जायेगा जो तुम्हें अपनं चरम पर पहुँचा देगा ।'

महावीर की इस प्रेरणा ने मधुकुमार के प्राहत मन पर मनहम का काम किया । पतन की ग्लानि को इस प्रेरणा ने धो टाला । उनकी मन मे अदभुत चाहस का सचार होने लगा । छटिपुमा और शान्ति लाभ की कामना दलवती बन गई । मुनि मधुकुमार ने दिनम्र और शान्त भाव से प्रभु के ज्योतिर्मय मुख-महल को निहारते हुए निवेदन किया—

'भगवन्, क्षमा करें । इस पतनोन्मुगी प्रात्मा को टूबते हुए णापन दखा लिया । प्रभु, मैं दोषी हूँ, मैंने साधु-नियमों की भयबर णवहेलना की है ।'

मुनि मधुकुमार पश्यात्ताप के मेद और नव-सबल्पी साहस के हृदं से मिश्रित घांसुघो से भगवान के पावन चरणों को धो रहे थे और क्षमा के सागर महावीर केवल मन्द-मन्द मुस्करा रहे थे ।

अनमोल मोती

‘अरे मेहतारजकुमार मैं अपनी पूर्वं प्रतिज्ञा के अनुसार तुझे सचेत करने आया हूँ कि तू इस ससार के माया-बन्धन-से बाहर निकल । भूल मत कि यह ससार मृगतृष्णा है—जो कुछ दिखाई देता है, वह भ्रम है । यह तो सुनहरी फटार के समान है, जो दीखने में सुन्दर दिखाई देती है, लेकिन लगने पर घातों को चीर-कर बाहर फेंक देती है । इस भूल-भुलैया में तू अपने स्वत्व को भुला न दे—इसीलिये मैं तुझे सावधान कर रहा हूँ .. .’

मेहतारजकुमार अपने सामने अचानक एक दिव्य मूर्ति को निहार अचरज से भर चठा । उसे समझ में नहीं आया कि यह कौन है, उसने उसके सामने क्या प्रतिज्ञा की थी और वह इन सावधानी दिलाने आया है ?

वह दिव्य मूर्ति से पूछने लगा—

‘साय कौन हैं और मुझे सचेत करने का आगका क्या अभिप्राय है ?’

‘ओहो, आश्चर्य ! तुम अपना कर्तव्य भूल जाने के साथ-साथ क्या मुझे भी भूल चुके हो ? परन्तु ध्यान रखो—मैं तुम्हें भुला नहीं हूँ और इस समय भी अपनी प्रतिज्ञानुसार ससार से

ईशान्य ले देने के लिये चेतावनी देने हेतु उपस्थित हो गया हूँ—'
दयता ने मेहतारज को याद दिलाने का प्रयास किया ।

'प्रयत्न, समा करें—मैंने आपको पहचाना नहीं और न ही
मैंने किसी प्रतिज्ञा की याद घा रही है ।'

'तो मेहतारज, मुझे तुम्हें हमारे पूर्वज की कहानी सुनानी
ही पड़ेगी ।'

×

×

×

'भार्य गोविन्द, तुम्हारी क्या राय है ? जीवन को क्षीण
के अणित बनाये रखें या उसे धोकर उज्ज्वल बना लें ?'

'ईश्वर भ्राता जी, महात्मा का उपदेश मैंने भी सुना है ।
हमें भार्य के पीछे-पीछे छोटा भार्य भी चलने को तैयार है । आप
ही अपनी राय बताइये और मैं भी चल पहुँगा ।

ईश्वर और गोविन्द दोनों सहोदर भ्राता थे । दोनों ने एक
साथ महात्मा का उपदेश सुना और तय्योग से दोनों ही एक साथ
एक उपदेश से प्रभावित हुए तथा दोनों ने एक साथ दीक्षा ग्रहण
करके तपस का आराधन आरम्भ किया ।

एक दिन धराराकर गोविन्द मुनि ने ईश्वर मुनि को कहा ।

‘तुम्हारे मन में यह दुर्वलता क्यों आने लगी है, गोविन्द । समय की धाराधना क्या कोई फल पाने के लिये की जाती है ? उसका वो एकमात्र लक्ष्य है—जीवन के स्वर्णों को संयम की धारा में तपाकर न केवल उसे निखार देना बल्कि उसे क्रुद्धत बना देना । बीक्षा लेकर भी तुम मोहाविष्ट क्यों होते जा रहे हो ?

‘आप सही कह रहे हैं, भ्राता मुनि जी, मेरे कदम इस रास्ते पर जम नहीं रहे हैं, किन्तु मैं आप से प्रतिज्ञा करता हू कि जिस प्रकार आप मुझे इस समय प्रतिबोध दे रहे हैं—सचेत बना रहे हैं, उसी प्रकार आने वाले जन्मों में भी आप मुझे याद रखें और सचेत बनाते रहें, ताकि मैं धीरे-धीरे ही सही—इस दुर्वलता को मिटा सकूँ ।’ मुनि गोविन्द ने आग्रह भरे स्वर में कहा ।

‘मैं तुम्हें बराबर याद रखूँगा और कर्तव्य-पालन के लिये तुम्हें सावधान करता रहूँगा । मुझे विश्वास है कि एक दिन तुम दुर्वलता के घेरे को लांघ कर अवश्य ही इस जीवन-ज्योति को प्रकाशमान बना सकोगे ।’

धीरे दानो मुनि बाहर से मुनि बने रहे, किन्तु भीतर के रास्ते चल-चल गये । ईश्वर मुनि की साधना निष्काम रूप से चलती रही, किन्तु गोविन्द मुनि ने मन-ही-मन कामना कर डाली कि उसे उसके समय-धाराधन का फल आने वाले जन्म में संसार के सुख और ऐश्वर्य की उपलब्धि के रूप में मिले ।

यथासमय दोनों मुनि काव्यगति को प्राप्त हुए । ईश्वर मुनि का भीव सातवें देवलोक में देवता के रूप में उत्पन्न हुआ तो उसने अपने ज्ञान में देखा कि गोविन्द का जीव एक महतरानी के वन में

पट्टर हुआ है । साहित्य भाई का स्नेह था । देवमाया से उदने जन्म होने पर महतरानी के पुत्र को एक कोट्याधिपति सेठ की सेठानी की गोदी में पहुँचा दिया और सेठानी के नवजात नृत्क पुत्र को महतरानी की गोदी में । गोविन्द ने समय में जो पुण्य कामाया था, उसके प्रभाव में उसकी कामना भी तो पूरी होनी चाहिये थी ।

सेठ-सेठानी को अपने पुत्र-जन्म की परम प्रसन्नता हुई और जगका वे सुख और ऐश्वर्य के वातावरण में खान-पावन करने लगे । वह पुत्र अब युवावस्था की देहरी पर आकर खड़ा था ,

इसी का नाम था मेहतारजकुमार ?

×

×

×

देवलोका की वह दिव्य मूर्ति मन्द-मन्द गति से गुरुवरा रही थी और मेहतारजकुमार तिल वदन होता था रहा था ।

‘क्यों मेहतारज, अब तो तुम्हारी कामना पूरी हो गई है न ? जन्म से लेकर एक अवस्था तक तुम सुख और ऐश्वर्य के हिरोसे में भरते आये हो, अब तो इससे मन भर गया होता तुम्हारा ? अब तो विरक्त होने की एका दना ली होगी तुम्हारे ?

‘तो इस समय क्या विचार है तुम्हारा, मेहतारज ?’

इस मिटाव से मेहतारज को भी कुछ कहने का साहस हुआ । वह बोला—

‘हे देव, आप मेरे परम उपकारी हैं । मैं आपकी चेतावनी भूलूँगा नहीं, किन्तु कल ही तो मेरा घाठ सुकुमार कन्याओं के साथ विवाह होने वाला है, जिनमें से एक तो राजकुमारी है । मैंने अभी संसार का सुख ही क्या देखा है ? समय तो अब आ रहा है—आप मुझे एक युग (१२ वर्ष) की अवधि तो दीजिये कि मैं कुछ अपनी कामना पूरी कर सकूँ । निश्चय मानिये, फिर मैं सारा मोह छोड़ दूँगा—भोग से त्याग के पथ पर चल पड़ूँगा ।’

‘ससार की सलग्नता बड़ी चटिल होती है, मेहतारज—इसे मत भूल जाना । मैं तुम्हें एक युग का समय देता हूँ, फिर तो कोई बहाना नहीं बनाओगे न ?’

न तो मेहतारज ने कोई उत्तर दिया और न देव ही किसी उत्तर के लिये ठहरा ।

×

×

×

मेहतारजकुमार के विवाह का दिन था । एक करोडपति के पुत्र का विवाह—फिर ठाटवाट की क्या कमी ? विवाह के उस्ताद की शोभा अपूर्व थी । नगर के सारे नागरिक उसे देखने एकत्रित हो रहे थे । मूल्यवान् वेशभूषा से सुसज्जित अथवाकट्ट मेहतारज का जब बिन्दोला चला तो उसकी साजसज्जा देखते ही बनती थी ।

घाठ-घाठ सुकुमारियों के सग परिणय एवं प्रणय की तालमाल से एक घोर जहाँ मेहतारज का मन फूला नहीं समा रहा था तो

दृष्टी और एक अज्ञात भय उसके मन को कघोट रहा था कि यह युग-भोग तो उसके लिये एक युग तक ही है और एक युग को बीतते देर ही कितनी लगती है ? उसने अपने मन को समझाया कि यह निश्चिन्त बने—देवता को समझाने का फिर कोई और रास्ता निकाल लिया जायगा । चाखिर देवता भी पराया तो नहीं है । उसने अपने मन को मीठे सपनों में सुला दिया ।

×

×

×

हास-विलास और भोग-उपभोग की घठमेलियों में दाह-दहं किए प्रकार और कितनी शीघ्रता से बीत गये, इसका भान तक एक महतारजकुमार को नहीं हुआ । यौवन, पन और मदमत्त जीवन भगा इन सबको छोड़कर नगे पीरो काटे और पर्यरो भी राह चलना महतारज को क्यों अच्छा लगता ? किन्तु देवता तो पायेगा ही और क्या बर्जगा—दही सोच में डूबा वह अन्यमनस्क हो रहा था ।

देवता तो अपने गोविन्द शार्द का हितैषी था, वह नहीं चाहता था कि दोनों शार्द भावना के क्षेप में दूरी तरह से विटल जाते । एक स्वेच्छा से गति करता है किन्तु सभी-सभी कित्ती को लोभपीठ पर भी गति करानी पड़ती है । महतारज अहित एष्टर भी भोग रहा है किन्तु बग़ावत इन देते-देते लक्ष्मि रहने से वह एक चहेटा है ।

रही थी । विराग का तो अभी कहीं चिह्न तक उत्पन्न नहीं हुआ था ।

इसी समय कक्ष में एक दिव्य प्रकाश फैला और मेहतारज समझ गया कि उसकी पुकार आ गई है । अब तो वह दिव्य प्रकाश उसे काट खाने वाला और देव कालपुरुष—सा प्रतीत होने लगा ।

‘मेहतारज, विकृति का एक युग बीत गया, अब तो सत्कृति का युग प्रारम्भ करोगे न ?’

वही तरल स्वर, वही प्रेरक उद्बोधन, किन्तु बीज कैसे फले, धरती वज्र और सूखी जो हो रही थी ?

‘मेरे भ्राता देव, बारह वर्ष तो बारह क्षण की तरह बीत गये । कुछ पता ही नहीं चला कि मैंने कुछ सुख भोगा भी है । अभी तो मेरे पुत्र—पुत्रियाँ बाल्यावस्था में ही हैं । उन्हें बड़े हो जाने दो—ब्याह लेने दो । एक बार पितामह तो बन जाने दो—फिर ससार को छोड़ना तो है ही । इतनी भी क्या अधीरता है पाखिर ? मैं वचनबद्ध जो हूँ—मेहतारज ने फिर एक युग की अवधि की और मांग की ।

देवता ने हार—थककर कहा—

‘ठीक है, एक युग की अवधि और देता हूँ, किन्तु वादा करो कि तीसरी बार तुम और अवधि नहीं मांगोगे । ध्यान रखो कि यह दलदल दिखा ही है जिसमें से पैर निकाल लेना आसान नहीं होता और यदि तुमने अपनी चेतना शिथिल बना दो तो पैर अन्दर और अन्दर घसता ही जायेगा ।’

इतना कहकर देव फिर अन्तर्ध्यान हो गया ।

‘मेहतारज, अब तो तुम्हारी कामना-पूर्ति में कोई कसर नहीं बची है। सखार का सब कुछ देख घोर भोग लिया है, तुमने। अब तो शरीर भी जर्जर होने लगा है, कामनाएँ भी जर्जर हो रही होंगी। घोषणा करवा दूँ मैं नगर में कि मेहतारज मुनि इन १६ हैं।’

देवता की दास अब भी मेहतारज को नहीं रुच रही थी। बंता होता है विष्टा का रवाद कि विष्टा का कीड़ा उसमें से बाहर निकलना ही नहीं चाहता है। वह बोला—

‘मन कला भरा है अभी—जरा पोतों की बटुणों का मुँह तो देव नृ। इस दतनी—ही देर घोर सएन कर लो, देव, फिर मुनि तो बनूँगा ही।’

जिसे वितृष्णा में पड़े रहने पर विचार नहीं—घपने दरन तोरने पर भी जिसे लज्जा नहीं, वह तो धृष्ट हो गया है—एक रास देवता मुक्ति हो उठा और उस रदर में होता—

मेहतारजकुमार सायकाल रथ में बैठकर भ्रमण करने जा रहा था। अभी उसका रथ मुख्य बाजार के बीच में होकर गुजर ही रहा था कि एक वयोवृद्ध मेहतर और मेहतरानी ने अपने मने की टोकरिया एक ओर रखकर घोड़े की रास पकड़ ली। मेहतर-रज हक्का-बक्का होकर देखता ही रह गया कि यह क्या मामला है ? उसने रथवान से रथ रोकने को कहा और बाहर भाँकते हुए उसने गुस्सा दिखाकर डाँटा—

‘शम नहीं आती तुम लोगों को जो बीच बाजार बिना कारण मेरा रथ रोककर खड़े हो गये हो ?’

मेहतर और मेहतरानी मेहतारज के विल्कुल समीप चले आये और रो-रो कर जोर-जोर से कहने लगे—

‘तू नहीं जानता कि तू हमारा बेटा है। एक देवता ने ऐसी माया की कि वे तुझे हमारे घर से सेठ के यहाँ चुरा ले गये और उनका मरा हुआ लडका हमारे यहाँ डाल गये। हमारे पूटे भाग कि तेरे जैसा बेटा होता हुए हम निपूते कहलाते रहे। अब तो हम तुझे छोड़ेंगे नहीं। इस रथ को अब अपने दान माना-गिता के घर की ओर मोड़ दो—’

सैकड़ों नागरिक इकट्ठे हो गये। एक अजीब सप्ताटा छा गया। मेहतारज को काटो तो खून नहीं। उससे कुछ बोलती ही नहीं बना। एक करोडपति के लडके को मगी कहता है कि यह मेरा लडका है—यह कैसी बात है ?

एक समझदार नागरिक ने आगे बढ़कर मेहतर को पूछा— ‘ऐसी बेटुकी बात तू कैसे कहता है ? जानता नहीं, ये सेठ के बेटे और राजा के जवाई हैं। ये तेरे बेटे हैं—इसका क्या उत्तर है तेरे पास ?’

मेहतर ने छाती ठोक कर कहा—

‘मुझे यह तप्य उस देवता ने बताया है, जिसने जन्म के समय गरबों की बदला-बदली की थी—’

सभी प्राणियों में दादलो की घटघटाहट जैसी कबंज घटनि हुई और उस देवता ने मेहतर की बात की पृष्टि की। सभी लोग एक दूसरे का मुह देखते रह गये और मेहतारज तो सारी देवमाया की उमंगकर घपने प्रति दीभरुख ग्लानि से भर उठा।

सारे जन-समुदाय के बीच ही उस देवता ने अपने तीर पर मेहतारज से पूछा—

‘बहो मेहतारज, अब तो सतार से तुम्हारा मन कर क्या है? क्या अभी भी कोई और कामना बाकी है? तुम्हारा हाथ है? क्या नहीं है, किन्तु तुम्हारे लिये मुझे यह धरत जानना पड़ा है। अब तो दीक्षा में लिये तैयार हो न?’

मुनि मेहतारज ने संयम और तप की वह कठोर साधना प्रारम्भ की कि सभी आश्चर्य करने लगे । उन्होंने संकल्प कर लिया कि जितना मूल इतने वर्षों में उन्होंने इकट्ठा किया है, उसे वे उठने ही महीनो में खो लेंगे । एक-एक मास तक अन्नभक्षण रक्षते— फिर एक दिन हल्का-सा भोजन करते और दूसरे दिन वे फिर एक मास की तपस्या का व्रत ले लेते । वे कुशाकाय होते हुए निरन्तर पुष्टात्मा बनते जा रहे थे ।

एक दिन मास भर की तपस्या पूरी होने पर पारणो के निमित्त भिक्षा लेने मुनि मेहतारज यज्ञ-तप भ्रमण कर रहे थे । इतने में एक वृद्ध स्वर्णकार ने उन्हें देखा तो दौडकर अपने घर भिक्षा ग्रहण करने हेतु भक्तिपूर्वक निवेदन किया । उस समय वह स्वर्णकार महारानी के लिये मूल्यवान मोतियों का एक झार बना रहा था । मूल्यवान मोती और सोने के टुकड़े उसकी पीठिका पर पत्र-तत्र बिलये पडे थे, वह उन्हें वहीं ही छोडकर भक्तिवश दौड़ पड़ा था ।

वह मुनि को लेकर अपने मकान के भीतरी भाग में गया और मुनि को आहार बहराने लगा । इस बीच स्वर्णकार का पानू मुर्दा धाकर पीठिका पर से जाने समझ उन मूल्यवान मोतियों को चुस गया और पल्ल फड-फडाकर वापस बाहर चला गया । रमोई की एक बारी से मुनि ने मुर्गे को मोती चुगते हुए देख लिया था किन्तु स्वर्णकार को मजूर वहां नहीं पड़ रही थी ।

मुनि आहार ग्रहण करके यतनापूर्वक बाहर निकलकर अपने स्थान की ओर बढ़ बने । थोड़ी देर में स्वर्णकार जब बाहर आया और उसने पीठिका पर मूल्यवान मोती नहीं देने का अचूकदम पसरा उठा । ऐसे मूल्यवान मोती कहीं अन्यत्र प्राप्य नहीं थे और उतनी

ज्ञान के लिये राजा कैसा घोर कितना दंड दे—इसकी कल्पना से ही वह दृढ़ धूमने लगा ।

तत्क्षण उस दृढ़ के मन में आया कि इस नमय मुनि के विद्याय कोई आया नहीं, इसलिये यह काम मुनि ने ही अष्ट होकर किया है । यह वहीं से भागा घोर किसी तन्त्र मुनि को वापस वहाँ लेकर आया । घर के भीतर ले जाकर उसने पूछा—

'मुनि होकर भी आपकी ममता छूटी नहीं है । मेरे मृत्युदान गोली आप ही ने लिये है । जल्दी से निकाल दीजिये या नहीं द्रिपाये हो, बतता दीजिये, घटना मेरी तो गौत छोड़ी ही किन्तु आप भी नहीं बच सकेंगे ।'

दृढ़ शय घोर घोष से घबरा हो रहा था । गति में लोपा कि यदि वे सत्य कह देते हैं तो पागल बना यह दृढ़ अभी ही मुर्गे की घात कर देगा और उससे लक्ष्मी पट्टा हरिदास का महा-व्रत लखित होगा । इसलिये उन्होंने गौत ही रहने का निश्चय किया ।

'आपकी ममता नहीं रही, किन्तु लक्ष्मी है, आपका नाम भी नहीं दूँगा है । अब भी सब कह दो और गोली दे दो—'दृढ़ ने आगरी आगू किया ।

घोर यह कठिन यातना । ज्यों-ज्यों कड़ी छूप के प्रभाव से गीला घमड़ा सूखकर सिकुड़ने लगा, त्यों-त्यों मुनि का खिर भिचने लगा और मस्तक की नसें फटने लगीं । एक प्राणी की रक्षा के लिये उस घपार वेदना को भी वे शान्तिपूर्वक सहने लगे । वृद्ध स्वर्णकार खड़ा प्रतीक्षा करने लगा कि मुनि मूल्यवान मोतियों के बारे में अब बतावें—अब बतावें ।

प्रतीक्षा से जब वह थक गया तो बाहर चला गया । उसके चारखरों का ठिकाना नहीं रहा कि वे सभी मूल्यवान मोती मुर्गे की बीट में निकसे हुये पड़े थे । उन मोतियों को देखते ही वह भीतर भागा कि मुनि को यातना मुक्त कर दे और उनसे अपने शका भरे दुष्कृत्य के लिये क्षमा मागे ।

किन्तु यह क्या ? मूल्यवान मोती तो मिल गये थे, मगर अनमोल मोती जा चुका था । वृद्ध स्वर्णकार वहीं खिर पकड़ कर बैठ गया । वह क्या जाने कि वह अनमोल मोती गया नहीं, अपने विकास के अन्तिम निखार को पाकर अमर बन चुका था ।

श्रंगूठी

प्रतिदिन की तरह ज्यो ही पट्टमटापिपति अश्रुशरीर बना महाराज स्नान-गण्डन से निवृत्त हो ११ गार करने क्षीणमहल में प्रविष्ट हुए, उनके सुन्दर शरीर की सफरों प्रतिपत्तायाए ता स्वल्प दर्पणों से प्रतिबिम्बित होने लगी । क्षीणमहल की पानी दीवारों, तब च फल पर समूचे रूप से दर्पण रह जरे हुए से हीर प्रायद दर्पण रह से भरत महाराज की छाकृति दिगदर् दे रही थी ।

जैसे ज्ञानी से ज्ञान से अभ्यस्त, इस जगत् में कोई रहल नहीं जाता, उसी तरह क्षीणमहल का कोई रहल उस समय उस दिव्य-दर्पण कृति से प्रतिबिम्ब से रहित नहीं था । अर, नीचे, दिग्— सभी रूपण उस भव्य दिभूति को अपने अक्ष से हगाकर माने, अपार हृदं से विहसित हो रहे थे ।

सौन्दर्य-शोभा का कहना ही क्या । अनुपम वस्त्रा-भूषण से सुम-ज्जित स्वयं देवेन्द्र भी इतना सुन्दर दिखाई न देता होगा । अपना मनोहारी रूप स्वयं ही देखकर वे फूले न समाए ।

वे विचार करने लगे—

'सौन्दर्य की एक झलक भी अपूर्व होती है । सुन्दर शरीर पर सुन्दर श्रृंगार की सज्जा देखते ही बनती । सम्भवतः मेरे सौन्दर्य का इस ससार में कोई भी सानी नहीं । जब मैं राज्य समा-मंडप में प्रविष्ट होऊँगा—एक दिग्गज ज्योति-सी चमक जायेगी, दशक अपनी सुष-बुध खो विमृग-भाव से मेरी ओर एकटक देखते ही रह जायेंगे । निश्चय ही मेरे समूचे सुन्दर, सुकोमल एवं सुदर्शनीय तन की भाभा अद्वितीय ही होगी .. .'

अचानक एक अगुली में हीरे की अगूठी निकलकर नीचे गिर पड़ी । उनकी विचारश्रृंखला टूट गई और सीधी उनकी दृष्टि उस अगुली पर पड़ी । अगूठी गिर जाने से अलकार-शून्य वह अगुली एकदम शोभाहीन-सी प्रतीत होने लगी ।

विचार-धारा की दिशा ने तुरन्त ही पलटा मारा, वह विपरीत दिशा में वह चली—

'अरे, अगूठी के गिर जाने से यह अगुली कितनी विरूप बन गई ? अगूठी क्या निकल गई है कि जैसे इसकी सुन्दरता ही हो गई है । जो अगुनी अगूठी के संयोग से एक क्षण पूर्व ही ओर मनोहर दिखाई दे रही थी, वही इस समय अगूठी के अभाव में कितनी असुन्दर हो गई है ? .. तो क्या मेरा शरीर स्वयं सुन्दर नहीं ? क्या वस्त्रा-भूषण का संयोग ही उसे सुन्दर बना रहा ?.....

विचारमग्न अवस्था में उन्होंने हीरक हार उतार दिया, रत्नजटिन मूकूट को खलंग कर दिया और एक-एक अलंकार को हटाकर दूर रखते गये और तब अलंकार-हीन अपने शरीर तथा लक्ष्मी अंग-रूपी को दर्पण में निरखते गये ।

यह क्या ? अब वह सौन्दर्य कहा चला गया ? अब तक दिग्दर्श दे रही सुन्दरता तो आँसों की धोखा मात्र थी । यदि शरीर अस्त्राभूषण के संयोग से ही सुन्दर दिग्दर्श देता है तो स्वयं शरीर में सुन्दरता कहा है ? शरीर स्वयं सुन्दर नहीं तो अस्त्राभूषण ही उसकी सुन्दरता को क्या बना देंगे ? अस्त्राभूषण की सुन्दरता भी नष्ट हो सकती है और एक देह की सुन्दरता भी, क्योंकि स्वयं देह नष्ट हो सकती है, वह सुन्दरता ही कौसी ? सुन्दरता तो यह है जो कभी मिट नहीं, हमेशा टिकी रहती ।

भरत महाराज गहरे और गहरे सोचते चले जा रहे थे—

'मनुष्य के भ्रम का कोई पार नहीं है कि वह अपनी देहिक सुन्दरता को ही चिरस्थायी मान लेता है और उसी की रक्षा व सज्जा में सुख का आभास पाने लगता है। खटन, मर्दन, स्नान, मखन, शृंगार आदि से देह को सुन्दर-धी-मुन्दर दिखलाने की चेष्टा करता है। किन्तु वह भूल जाता है कि यह सुन्दरता तो नाशवाण है और इसे भी वह याद नहीं रखता कि इसके मूल में जो चैतन्य है, उसी सुन्दरता को निखारने का यत्न किया जाये, क्योंकि वही अष्टतम की सुन्दरता अनश्वर होती है. ..'

'मेरा मन भी बाह्य सुख और बाह्य सौन्दर्य में गटक रहा था, परन्तु इस समय जो मैं गहरे उतर कर अपने भीतर झाँक रहा हूँ तो ऐसा प्रतीत हो रहा है कि मेरी दृष्टि अब अपूर्ण आत्मिक सौन्दर्य को तोज लेगी। अगूठी के गिर जाने के बाद अमकार-गून्य इस अगुली ने मुझे जिस सत्य का दर्शन कराया है, वह मुझे चिरन्तन सत्य तक अवश्य पहुँचायेगा।....'

'अन्धकार में ही प्रकाश का श्रेष्ठ बोध होता है किन्तु पहले अन्धकार को भी समझना परम आवश्यक है, क्योंकि उसी में प्रकाश का महत्व समझ में आयेगा। शरीर की वास्तविक स्थिति में परिचित होने का अर्थ ही आत्मिक-स्वच्छ की ओर गति करना है। मात्र मैंने अन्धकार को समझा है तो अब मैं प्रकाश की ओर अवश्य अग्रसर बनूँगा....'

'इस अगूठी ने मुझे आगुन बनाया है, आत्मपरिष्कार के लिए सचयत किया है। अब मुझे शरीर की नश्वर सुन्दरता में आभा का विमल सौन्दर्य एक स्फटिकमणि की भाँति स्पष्ट दीखत लगता है। मैं इस समय जड़ता से गृह्य चैतन्य की गहन अनुभूति कर

एह है । मैं प्रदाय ही शरीर के ममत्त्व को त्यागकर अन्ततम के
 अगल सौन्दर्य को पहिचानू गा.....'

'आज का दिन मेरे लिये सबसे ऊंचा दिन है । मुझे अपना
 अपना स्वरूप धीरे-धीरे स्पष्ट दिखाई देने लगा है । मेरी चेतना—
 मेरी धारणा, यह क्या ? हलकी महसूस होती हुई अदंगाकी हो
 रही है । प्रहा, मुझे अचर्यानीय दिव्य आनन्द की अनुभूति हो
 रही है'

अनित्यभावना के उत्कृष्ट दिग्गम की तरणी में अस्त
 गतास्त वास्तव में अचर्य धीरे अर्ध लठते गये । अगला शरीर
 कीमताएँ के अगल-अर्ध के अगल ही यथावत् अगल का अस्त
 अगली चेतना अमित उचाइयो को पार करती हुई खली जा रही थी ।

X

X

X

स्वयं उबर जाकर ज्ञात करता हूँ, आप निश्चिन्त रहें ।'

सभी प्रधान अमात्य ने शीशमहल की ओर जाने के लिये पाँव बढ़ाया ही था कि आकाश में देव-दुन्दुभि का स्वर गूँज उठा, शीशमहल की ओर से जय-जय का नाद सुनाई दिया तथा चारों ओर पुष्प-वर्षा होने लगी । सभी आश्चर्य में डूब गये कि इस दैविक घटना का क्या अर्थ है ? प्रधान अमात्य भी विस्मित होते हुए शीशमहल की ओर तेजी से पग बढ़ाती चल पड़े ।

X

X

X

'समाजनों, देवताओं द्वारा यह सत्कार अपने भारत महाराज का ही हो रहा है । अनित्यभावता की उन्कूट श्रेणी में पदुचर उन्हीने वैचनज्ञान प्राप्त कर लिया है । यह दुन्दुभि, यह जयनाद और यह पुष्प-वर्षा केवली भारत का वैचन-महोत्सव है । परममरुत छ मरुत के महाराज से सारे जगत् के महाप्रभु हो गये हैं'— प्रधान अमात्य ने जोधना में लौट कर समा को सूचित किया ।

सभी विस्मय के अनिरेक में एक-दूसरे की घ्राणति निहारने लगे । शीशमहल में वैचनज्ञान की उपलब्धि यह स्तर में एक आश्चर्य है । शीशमहल तो वह स्थान है, जहाँ इस शरीर को सजाया और सवारा जाता है, वहाँ आत्मा का सर्वांग अकार भारत महाराज को कैसे प्राप्त हो गया ? मरुत, लप या द्वितीय प्रव की ऊपरी धाराधना नहीं करते हुए भी उनकी आन्तरिक धाराधना इतनी उच्च कोटि की बन गई कि वे आवात्मक सर्वोत्तम गानु श्री नहीं, एकदम देवनी ही बन गये—सभी के हृदय इतने ओर पड़ा से परिपूरित हो गये थे ।

अकस्मात् मरुत महाराज ने समा मउप में प्रवेश किया,

विन्दु सिंहासन के पास नहीं बसे । जब भला सिंहासन की ओर
 देखाते भी क्यों ? सिंहासन के योग्य कोई साह-सज्जा तब उनकी
 शरीर पर नहीं थी । मुकुट के स्थान पर शैशानुद्धित नग्न छिद्र
 का और पदत्राण नहीं, पैर भी नग्न थे । वह तब भक्त श्रद्धार्थी
 नहीं, साधु भरत थे, किदली भरत थे । यद्यपि वे मनोरम दम्पती-
 शृण्ण का त्याग चुके थे किन्तु उनके मुखमण्डल पर एक अतीविक्र
 क्षण श्दीप्त हो रहा था जो बाहर से नहीं, उनकी अन्तर्गत् से प्रकट
 रहा था ।

एसा में जयनाथ के पश्चात् अतुल्य गान्धि द्यो रई । एव
 कर हुए तो तरे ही रहे, क्योंकि भक्त महाराज स्वयं भी भक्त ही
 थे । उन्होंने समाजनों को उद्बोधित करते हुए दीर्घी विन्दु शरीर
 भाषा में कहा—

स्वर्ण-मुद्रा

'देखो—एक बात मुझे ध्यान में आई'—हरश्वती की घाँसों में एक चमक दिखाई दी ।

'वह क्या ?' कपिल उत्सुक हुआ ।

'शायद अपने नगर के राजा ने एक नई परम्परा शुरू की है न ?'

'मुझे नहीं मालूम—'

'ऐसा है कि प्रातःकाल जो ब्राह्मण सबसे पहले राजा को आशीर्वाद देता है, उसे राजा एक स्वर्ण-मुद्रा दान में देता है ।'

'तब तो यह आशाभरी बात है !'

'है तो सही—'

'फिर क्यों नहीं मैं जल्दी उठकर काग मुद्रा पत्रों पढ़ने राजा को आशीर्वाद देने के लिए पट्टण जाऊ और स्वर्ण-मुद्रा प्राप्त कर लूँ ?'

पत्र का एक भी दाना जिस घर में नहीं हो, स्वर्ण-मुद्रा की कहरना भी बड़ी सुखद होती है । सोचने-सोचते दीनता की

पीटा और स्वर्ण-मुद्रा-प्राप्ति की मनावना दोनों ने कपिल और
हरदत्ता दोनों को बलात नींद की थोड़ी में पटक दिया ।

✕

✕

✕

एक नींद घाई न घाई—प्रातःकाल होता जान कपिल
पृथोहित उठ पटा हुआ । उसे प्राणका हो रही थी कि कहीं नन्दिका
भी बिनाम हो गया तो स्वर्ण-मुद्रा थोड़ी अन्य साहाय्य ले जायगा ।
राजमण्डल जल्दी पहुँच जाने के लिये वह अपने घर में निकल पया ।

मध्य रात्रि के निविष्ट अघकार में वह खना जा रहा था ।
सतमान की पीराघो छे उसका गुक्त मन सुगम करवनाघो छे अण्ड
सागर में पीते लगा रहा था कि प्राप्त स्वर्ण-मुद्रा छे वह दिन
प्रकार अपनी प्रेयसी को प्रसन्न करने का यत्न करेगा । एतदा
पीर भी इही स्फूर्ति छे काम कर रहा था, दयोदि जलित ही
सतमय साणाघो ने उसमें एक नया बल भर दिया था ।

एक स्वर्ण-मुद्रा—छोटा—सा पीला गोले टुकड़ा, बिन्दु वह
भी बितना सूक्ष्मदान है उसके लिये और विशेष रूप से उसके बालों
के जर दतमान के लिये । वह बहवना छे सप्तर में गहन बना
एन-टी-गन प्रसन्न होता हुआ सामे बत रहा था ।

करने का इरादा है तुम्हारा ?'—एक कड़कडाली आवाज ने कपिल से पूछा किन्तु भय के मारे कपिल के मुह में एक शब्द भी नहीं फूटा ।

'क्यों रे घूतं, बोल भी नहीं रहा है ?'

आखिर कपिल ने गिडगिडाते हुए सफाई दी—

'मैं न तो घूतं हूँ और न मेरा अपराध करने का ही कोई इरादा है । मैं तो गरीब ब्राह्मण हूँ और एक स्वर्ण-मुद्रा की प्राणा में राजमहलों में राजा को आशीर्वाद देने जा रहा हूँ ।'

'बड़ा सीधा बन रहा है और भूठ ऊपर से बोल रहा है कि कोई अपराध नहीं करने जा रहा है ? आशीर्वाद देने का समय तो प्रातःकाल है, मध्यरात्रि नहीं ।'

कपिल को भय ध्यान में आया कि स्वर्ण-मुद्रा प्राप्त करने की तत्परता से वह बड़े सखेरे की बजाय आधी रात को ही निकल कर आ गया है । भय तो वह प्रहरी की घमकी से और ज्यादा डर गया ।

'घाय विश्वास करें या न करें, मैं भूठ नहीं बोल रहा हूँ । दीनता की पीड़ा में मैं अपना उतावला हो गया कि मुझे मुद्रा का भान नहीं, मैं आधी रात को ही घर से स्वर्ण-मुद्रा के लिये निकल पड़ा ।'

प्रहरी ने कठोरता से कहा—'तैरा नयन विश्वास के गोण नहीं—मैं तुम्हें जाने नहीं दे सकता । न जानूँ कि कोई लम्पटी पुरुष ही और कोई अपराध कर बैठे तो मैं दोगी बन जाऊँ ।'

उसने अपने साथी से कहा—'इसे बन्दी बना लो और कारागृह में बन्द कर दो । प्रातःकाल रात्रा के घामने प्रहरी को दूँ देते—'

कपिल ने बहुत कुछ कहा—मुनी की किन्तु प्रहरी ने एक न गूनी । वह हन्दी बना लिया गया । कहा तो स्वर्ण-मुद्रा की जामा और उससे प्रेयसी को सुयो बनाने की कल्पना और कहा उनके हृदये में कारागृह की शृंखलाएँ ? पुरुष सोचता क्या है और दादा क्या है ?

×

×

×

'माता-पिता, रात को पहरा देते हुए मैंने हम पुत्र पुत्र्य का पहरा है । यह पाषी रात की किसी गभीर अंधकार की रात में हम रहा था और जब पकड़ा गया तो भूठ-भूठ ही नहाने जाना गया—'प्रहरी ने प्रातःकाल कपिल पुत्रोहित को राजा के सामने प्रस्तुत किया ।

‘प्रवश्य, नि संकोच कश्चि—’

तब कपिल (ब्राह्मण) ने अपनी दरिद्रता की कथनापूर्ण वास्तविक गाथा कह सुनाई और कहा—

‘महाराज, मैंने सोचा कि यदि मैं आपकी पात काल सबसे पहले आशीर्वाद देकर एक स्वर्ण-मुद्रा प्राप्त कर सकू तो कुम्भ शांति की श्वास से सकू अन्यथा कोई पाण नहीं है । आशा की इस ललक से मुझे समय का ध्यान नहीं आया और मैं आधी रात को ही घर से निकल पडा । सच बात तो यह है कि आधी रात के समय का ध्यान ही मुझे इन प्रहरी जो कि कहने से पाया । इसके सिवाय मेरा अन्य कोई उद्देश्य नहीं था ।’

कपिल की कथन कथा सुनकर न केवल राजा की तत्काल उपस्थित सभी लोगो की आँखें भर आई । उस कथन से निरमन्त्रेह रूप से स्पष्ट हो गया कि वह किसी भी प्रकार कोई अपराधी नहीं है । राजा ने तत्काल उसे मुक्त करने का आदेश दिया । मुक्त करने के बाद राजा ने कपिल से कहा—

‘कपिल, तुम्हारी दोनता ने मेरे मन को हिता दिया है । एक स्वर्ण-मुद्रा के बदले मैं तुम्हें यत्न देता हू कि तुम अपनी इच्छा से कुछ भी मांग लो और मैं तुम्हारी उस इच्छा को पूरी करूंगा । संकोच छोडकर जो चाहो, मांग लो—’ राजा का आग्रह था ।

कपिल (ब्राह्मण) एकदम सत्राटे में आ गया । उसे जो मुक्त होना भी दुष्कर लग रहा था कि बचने में इतना सरल श्रस्ताव आ गया है । उसका मस्तिष्क तुरन्त कार्यशील नहीं हो सका कि वह राजा से क्या मांगे ?

‘महाराज, क्या इस विषय में विचार करने का ही है ?

‘तुम चाप मुझे प्रदान कर सकोगे ?’ कपिल ने दिनती की ।

‘प्रदाय, प्रदक्ष्य शान्ति ए दिचार कर लो—’ राजा ने कहा और अपने शिदक को आज्ञा दी कि वह कपिल को उनके समीप-तप सजान में पहुँचा दे जहाँ वह अपनी माँप के द्वारे में ज्ञानि-पुरुष सोच सके और जब वह इस द्वारे में सोच कर निर्गुण्य पर से तब उसे उनके पास ले आये ।

शिदक आज्ञानुसार कपिल ब्राह्मण को स्वयं राजा के समीप करने के सजान में ले गया । उसे एक अणुभक्त दण्ड की शीला-लाया में दिखाने पर स्वयं घादिए की प्रतीक्षा में कुछ दूरी पर रुक गया ।

X

X

X

'किन्तु जब एक हजार स्वर्ण मुद्राओं का व्यय हो जायेगा तब तो फिर दीनता इसी तरह धा घेरेगी, यह पीड़ा और वह दुःख फिर छा जायेगा.. ..'

'क्यों नहीं फिर राजा का सारा राज्य ही मांग लूँ, फिर तो यह दीनता और पीड़ा कभी भी मुझे सता नहीं सकेगी । सदा-सदा के लिये सुखी हो जाऊंगा मैं और निश्चिन्त हो जायेगा मेरा परिवार.'

कपिल एक ही धारा में बहा जा रहा था । अज्ञानक उसके ज्ञान ततुषों को एक भटका-पा लगा और उसकी विचारधारा ने दिशा बदल दी ।

उसने सोचना शुरू किया—

'अरे, मैं यह क्या इच्छा कर रहा हूँ . मैंने तो दुष्टता और नीचता की सीमाएँ तोड़ दी हैं . जो राजा दिल तोलकर सत्कारता-पूर्वक मेरी इच्छा पूरा करने के लिये तैयार हो गया, मैंने उसका ही भयकर अनिष्ट करने का विचार कर लिया .. लज्जा अपनी चाहिये मुझे !'

'विषकार है मुझे जो मैं राजा के राज्य का ही अपहरण करने की इच्छा कर बैठा ! अब सोचा मैंने भी—जो मिश्रुक है वह राजा बन जाये और वह मिश्रुक स्वयं राजा को ही मिश्रुक बना दे, क्योंकि उसने मिश्रुक को उधरता दियाई है.'

'समार मे मनुष्य कितना स्वार्थी है कि वह अपने स्वार्थ के प्राण दूसरों के हित का एकदम भून जाता है । स्वार्थ की धारा में वह अपनी सारी गुण-शीलता, सारी सज्जनता का भी स्वादा कर देता है और तो और अपनी धारणा को भी उपर्युक्त धन-वित्त बनना टाँसता है.'

‘मात्र ही भी स्वार्थ के दलीभूत होकर अपनी छात्रा की बिलगो दिसा देखा । मैं पथभ्रष्ट हो गया, किन्तु पर धीर नहीं गिरा..... ।’

‘जीवन उत्थान के लिये ही धीर मैं अपनी छेठ भावनाओं के हल पर इस जीवन को अदृश्य धीर तीजी से उत्थान-मार्ग की धीर से चलूंगा .. .’

कपिल के हृदय में पहले विचारों का स्पष्ट रूप, किन्तु अस्पष्ट विचारों की ही छुट । वे अशोक वृक्ष के नीचे लगी लम्बे हँडे-हँडे भी भावना के धीरे से निरन्तर उपर धीरे उपर लम्बे ही चले गये । अपनी छात्रा के प्रति प्रियभाव न लक्ष्य रीत का स्पष्ट ही रूपों से धो खाया । ज्योती समस्त निर्मोहता की लिलि लक्ष्य छात्रा की बनी की उन्ने धीरे लक्ष्येण ज्ञान-क्षेत्रज्ञान की उपलब्धि हो गई ।

कपिल ब्राह्मण, कपिल शिवजी दत्त गये ।

X

X

X

राजा चिन्तातुर हो बैठा, उत्सुकता से उसने पूछा—

‘बताता क्यों नहीं कि उसे क्या हो गया है ? क्या वह अचेत तो नहीं हो गया ?’

‘नहीं महाराज, नहीं । वह अपने विचारों में सोया-तोया बैठा ही था और मैं उसे पुन अपने साथ आपके समक्ष लाने की प्रतीक्षा कर रहा था कि अचानक आकाश से स्वर्ण-पुष्पो की वर्षा होने लगी, देवताओं के झुंड आकर कपिल के चरणों में झुकने लगे और एक दिव्य प्रकाश चहों चारों ओर फैल गया है ।’

यह कहकर उस शिष्य ने प्रमाणस्वरूप एक स्वर्ण-पुष्प राजा को भेंट भी कर दिया जो वह अपने साथ लेता आया था ।

राजा ने गभीरता से सोचा और वह समझ गया । जो भायना के क्षेत्र में उच्चतम विकास करके कपिल देवेन्द्र का भी पूज्य बन गया है, उसकी पूजा करने में अब नरेन्द्र को कैसा मजबूत उसे तुरन्त उनकी शिवा में जाना ही चाहिये ।

राजा तुरन्त अपने सामन्तों, सेवकों के साथ अपने उद्यान की ओर चल पड़ा ।

×

×

५

देवेन्द्र और नरेन्द्र, देव और नर-नारी कपिल केवरी की मैं उपस्थित थे और कपिल केवरी घर्षादेश दे रहे थे—

‘मनुष्य की प्रगति का मूल उसकी अपनी ही भावना में रहा हुआ है । मृत आचरण से जो दूरी वह गुणों तक भी नहीं कर पाता, भावना की उत्कृष्ट श्रेणियों में वह उसे फल ही फलों में पूरी करके सर्वोच्च स्थान तक पहुँच जाता है ..’

नन्ही उनके दंष्ट्रीयमान क्षेत्र में प्रभावित हो गिरावें बैठे थे ।

सम्राट् और साम्राज्यी के पास ही सुशोभित होते हैं। धन्य के पास नहीं, कुणिक ईर्ष्या से जल उठे और उन साधनों को अपने धनिकार में ले लेने की अनधिकार भावना को वे दबा नहीं सके ।

‘देखो, हलकुमार, आज मैं तुमसे एक बात कहना चाहता हूँ—ऊपर शान्त रहकर कुणिक ने समझाने के ढंग से कहना शुरू किया

‘वह क्या—भाई साहब ?’

‘तुम्हारे द्वार और हाथी तो सज्जुन ही विलक्षण हैं ।’

‘जी हाँ, वे तो हैं, किन्तु आप कहना क्या चाहते हैं ?’

‘हलकुमार, मैं यह कहना चाहता हूँ कि इनके तुम्हारे पास रहने से इनकी विलक्षणता का महत्त्व नहीं बढ़ता है ।’

‘इसमें आपका मतलब—भाई साहब ?’ मन-ही-मन चौंक कर हलकुमार ने पूछा ।

‘यही कि इन्हें तुम्हें सहजं राज्य को धीरे देना चाहिये ताकि वे सम्राट् के मनोरंजन के साधन बन सकें और राज्य में गोभा पावें । वही इनका उपयुक्त स्थान हो सकता है ।’

हलकुमार करीब-करीब नीच उठा—‘मिना कौसे हो सकता है, भाई साहब, और क्यों होना चाहिये ? पिताजी से आपने तो पूरा राज्य पाया है । उन्हान तो द्वार और हाथी मुझे स्नेह के दिये हैं । उनके स्नेह के प्रतीक को भी आप मूल्यहीन बना जातें हैं ! मैं साफ-साफ अज्ञ कर हूँ कि इन पर आपका कोई अधिकार नहीं, राज्य का कोई स्वत्व नहीं ।’

कुणिक के चेहरे पर कृटिद हसी फैल गई । जैसे जैसे उसने धनपूर्वक हलकुमार का कहा—

'प्रधिकार घोर मनधिकार ही दात में नहीं समझनी, हनुमत्कार, मैं सम्राट् हूँ, मेरी उच्छा ही प्रधिकार होती है। जो मैं चाहूँगा, वह होकर रहेगा—इसका ध्यान कभी न भूलना।'

'यह नहीं ही सबेगा—यह आपका जन्माय है। हाँ जीन एधी मेरे हैं घोर मेरे ही रहने।'

एलमुमार रोप में कहता जा रहा था किन्तु ऐसा गम नहा या जंहे शृणिक ने उसे सुना ही नहीं।

×

×

×

कुमार को गहरी चिन्ता में डाल दिया । इस 'लेकिन' में था गंगा सम्राट् कुणिक का चेहरा, उसका सैन्यबल और उसका प्रत्याग करने का हठ । किन्तु यह 'लेकिन' फिर भी हलकुमार को हताश नहीं बना सका ।

उसने अपने मन को हड़ बनाया और निश्चय किया कि अन्याय की सारी शक्तियों के विरुद्ध साहस और अडिग साहस पहली आवश्यकता होती है और जब ऐसा साहस होता है तो अन्य साधन स्वाभाविक रूप से आकर जुट जाते हैं ।

तभी हलकुमार को याद आया कि उसके नाना चेटक महाराज अठारह गणराज्यों के समुक्त मण के प्रधान हैं, जिनसे उसे इस अन्याय के विरुद्ध ठोस सहायता प्राप्त हो सकती है । अपने हार पहिना और हाथी पर सवारी की कि तनिक-गी वेना में वह अपने नानाजी के समक्ष पहुँच गया ।

चेटक ने हलकुमार से गारा वृत्त गुना तो लड़ोना निर्णय यह निकाला कि इसका व्यक्तिगत महत्त्व कम और सामूहिक महत्त्व अधिक है । एक साम्राज्यवादी का अन्याय यदि प्रारम्भ में ही असफल नहीं बना दिया जाता है तो यह अन्याय पतवार झाँ जायेगा, त्रिमये स्वयं गणराज्यों की स्थिति सफट में पड़ जायेगी ।

उन्होंने इस बम्बीर विषय पर अन्तिम निर्णय मन की दृष्टि में अठारह गणराज्यों के मन की गण-परिषद् की विषय बैठक प्राहृत की ।

X

Z

21

राज्यों के अल्पतम साधनों से जा मिडता कैसा रहेगा ? एक ओर अस्तित्व का भी खतरा था, परन्तु दूसरी ओर न्याय की रक्षा हेतु न जूझना सबसे अधिक लज्जाजनक भी था । सदस्यों ने अपने विभिन्न विचारों को खुलकर प्रकट किया । इसके बाद सदस्यों की पार-स्परिक मन्त्रणाएँ भी हुईं ।

गण-सचैतक ने तब परिषद् की सम्मति को स्पष्ट करके हुए बताना शुरू किया कि अग्याय को सहकर उसे प्रोत्साहित करने की अपेक्षा गणराज्य न्याय की रक्षा में अपने धापको मिटा देने में अधिक गौरव का अनुभव करेंगे ।

तभी प्रहरी ने आकर निवेदन किया—

‘गणपति महोदय, सम्राट् कुणिक का राजदूत आया है और इसी समय आपमें मेट करना चाहता है ।’

‘उसे भातर ले आओ—’ गणपति ने आज्ञा दी । राजदूत ने परिषद् के सामने आकर सम्राट् कुणिक का एक पत्र प्रस्तुत किया, जिसे गण-सचैतक ने लेकर परिषद् को सुनाया । पत्र में अत्यन्तपूर्ण भाषा में लिखा था कि हुनजुमार उनके राज्य का घण रायी है और उसके द्वार, हाथी राज्य के अतिवार की उत्पन्न है, अतः गणराज्य अगए अपनी सुरक्षा चाहती है तो द्वार, हाथी अति हुनजुमार को राजदूत को घोष दें, अन्यथा युद्ध के लिए तैयार हो जायें जो उनकी अस्तित्व तक को मिटा देगा ।

पत्र मुन्ते ही मारे सदस्यों के चेहरों पर आशोक की तीक्ष्ण रेखाएँ खिच गई ।

‘सम्राट् कुणिक ने पत्र का खतरा सद ही भाषा में बताया है—’ राजदूत ने कहा ।

युद्ध में अद्भुत शौर्य दिशाति और सायंकाल हाथी के हृदय पर ही प्रतिक्रमण करके सबसे शुद्ध हृदय से क्षमायाचना करते ।

कई दिनों तक युद्ध हुआ । पून की नदी बह जाती, परन्तु गणराज्यो के न्याय ने साम्राज्यवादी अन्याय के सामने प्रपत्ता गौरव-पूर्ण मन्तक उन्नत ही बनाये रखा ।

किन्तु वर्तमान विचारणीय स्थिति यह है कि गणराज्य में रहते हुए भी हम आज न्याय के लिये कैसा व्यवहार करते हैं ?

एक रेशमी वस्त्र में सावधानीपूर्वक बांधकर अपनी घातक शक्ति में उन्हे रख दिया ताकि जब भी शत्रु की उर धागे की धार करेगी तो वह सच्चाई से वे ही दाने उन्हे लौटा सकेगी ।

×

×

×

चौथी और सबसे छोटी पुत्रवधु ने चावल के पाँच पाँच दानों को योग्य निर्देश के साथ अपने पीढ़र भिजना दिया ।

पाँच वर्ष बाद जब घनामेठ ने अपनी जाँच पुत्रवधु का फिर अपने पास बुलाया तो सबसे यही पुत्रवधु जाँचा कि शत्रु ने अपने चावल के उन्हीं पाँच दानों के बारे में पूछे । इसी क्षण इस सम्बन्ध में अपनी-अपनी बुद्धि से तरतुल्य व्यक्तियाँ कहे की सनके पास पहुँची ।

चारों पुत्रवधुएँ जब उनके सामने पान्तर टिँ गईं तो वे ने क्रमानुसार ही सबसे पूछना याग्मन किया -

‘हमारी सबसे बड़ी बेटो ने पाँच वर्ष पूर्व शत्रु को पाँच दानों का क्या किया है—यह मैं सत्य पत्र मुझसे सज्जना ।’

कुछ भी नहीं है । मैं इसीलिये उन दानों को नहीं लाई हूँ कि मैं उन्हें ला नहीं सकती थी ।’

‘क्या मतलब है तुम्हारे कहने का—मैं लगभग नहीं—’बेटे प्राश्न में डूब गये ।

‘मैं उन दानों का बोझ उठाकर ला नहीं सकती थी ।’

‘तो पांच दानों भी तुम्हारे लिये इतने बोझ वाले हो गये ?’

‘वही बात है, पिताजी—चाप उन पांच दानों को संभालने के लिये कृपा करके कुछ लंबगाड़ियां भेजे पीहर भिजवा दें ताकि वे दानों लेकर बेलगाड़ियां कल तक यहाँ वापस आ जायेंगी ।’

घन्नामेठ का प्राश्न फिर भी नहीं मिला और जब तीन बहूएँ तो सतिमूठ—सी बनी छोटी बहू को देखते को एक—एक निहारने लगीं ।

‘बेटो, बात को जरा समझा कर कहो—’

घन्नामेठ ने जैसे उच्च बुद्धिमानिनी रूप का सामन सामने पड़े बहूत छोटा मानते हुए प्राश्न—सी की ।

कुछ भी नहीं है । मैं इसीलिये उन दानों को नहीं लाई हूँ कि मैं उन्हें ला नहीं सकती थी ।'

'क्या मतलब है तुम्हारे कहने का—मैं समझा नहीं—'बेटे आश्चर्य में हुए गये ।

'मैं उन दानों का बोझ उठाकर ला नहीं सकती थी ।'

'तो पांच दानों भी तुम्हारे लिये इतने बोझ वाले हो गये ?'

'यही बात है, पिताजी—घाप उन पांच दानों को मंगाने के लिये कृपा करके कुछ बैतगाड़ियाँ भेजे पीहर भिजवा दें ताकि वे दानों सेकर बैतगाड़ियाँ कल तक यहाँ जापस आ जायेंगी ।'

घनासेठ का आश्चर्य फिर भी नहीं मिटा और जब तोत बहूए तो मतिमूढ़—गी नती छोटी बहू के चेहरे को एक—एक निहारने लगी ।

'बेटी, बात को जरा समझा कर कहो—'

घनासेठ ने जैसे उच्च बुद्धिशालिनी बहू के सामने घापको बहुत छोटा मानते हुए प्रार्थना—गी की ।

'पिताजी, सवार चन्द्रमा को इसीलिये पूजना है कि वह घपनी कलापो में बढ़ता रहता है । दूर के चन्द्रमा को भी तो हमी देखते हैं । जो कुछ मित्रे, उमे घपने ज्ञान और परिश्रम से अस्मिद्विद्वि क्रिया जाय—यही घपदित हाता है और तात्पर्य भी ।'

'बिचकुल मरे मन की बात कह रही हो तुमी । यह सब पूर्व दिखे गये चाकर के पांच दानों साद दाई नहीं थे, गुण गुण परीक्षा के दाने थे । तुमने इस परीक्षा में क्या किया है—को लगे से मुझे बताओ ।' घोर सेटरो सुनने को उदात्त हो गए ।



ही चलत है । निरन्तर अभिवृद्ध होते हुए शब्द का स्थाय्यता-पक्व
निर्भर की तरह सतत् प्रवाहित होता हुआ रह सकता है ।'

यह कहकर सेठजी ने अपने पुत्रों के पूछा—

'क्या मेरा कार्य-विभाजन तुम लोगों को स्यामपूर्ण लगा है ?'

'आपके चावल के पान दानों ने कौसी तरी परीक्षा की और
आपने कौसा सुयोग्य न्याय किया—इसे देखकर हम तो आपस-
चकित रह गये हैं, पिताजी ! इस पर मे आपका स्याम सदा
जीवित रहेगा और आपकी पुत्रपुत्रों को अपने जीवन की साधन
पूर्ण बनाने की दिशा में प्रेरित करता रहेगा—आप चिन्ता न करें ।'

आठो प्राणियों ने चावल चढ़ाकर अपने माता-पिता को
प्रणाम किया ।



प्रवेश किया, उधर समय मजुन माली अपनी परतो व अपनी के साथ मालाए बनाने के लिये विविध पुर्यों का चरण कर रहा था । ये छह पुरुष मजुन माली की पूजाराज के बाग़र गीने मारी हुए उसी के सामने आकर लडे हो गये ।

‘क्यों रे माली, तूने हमसे यह पश्न किया है ?’ - एक उदड पुरुष ने मजुन को डांटी हुए जब उदडा ही पश्न किया तो वह समझ नहीं सका कि ये कौन लोग है ? फिर भी भागी ने कहा—

‘जो, मैंने आपसे ही पूछा है और यह राजा की आज्ञा है कि मुझसे अनुमति लिये बिना कोई भी उद्यान में प्रवेश न करे, वह जाहे कोई भी हो—’

‘मूर्ख, न राजा की आज्ञा हों रोक सकती है और न तैरी अनुमति हमें रोक सकती है । हम स्वतंत्र पुरुष हैं—हम सब जनों की ‘नवित मंडली’ का क्या तुमसे कभी नाम नहीं सुना है ?’ - उन्होंने पूछा ।

मजुन माली ने सीपा-सा पत्तर दिया—‘मैं कभी पुरातन से ही नगर में जाता हूँ—मुझ आपकी इस ‘नवित मंडली’ का कभी कोई परिचय नहीं हुआ है ।’

‘अरे बाहू, ‘नवित मंडली’ का तुमसे परिचय नहीं । पर वह मंडली है जो मनचाहा करती है, उसे किसी का भय नहीं है । तुम्हें हमें उद्यान में आने से रोकने की हिम्मत कैसा हुई ?’

इतने में मंडली के एक सदस्य की उचित कदम चल चुनती हुई अनुमती पर आ गिरी । उसके रूप का देखकर उधर दृष्ट पुरुष के हृदय जो बुर दृष्टता टमर घाई । वह जाने भागा

सम्पदापुत्रक अपना प्रकृत नहीं लगा सता था । हे निर्मल होकर
पापकार करती थे और जनता उनसे आशुकिता थी ।

राधको में दया प्रकेता अर्जुन माती तदकता न्हा ही ने
सात सभयती को बनाए पकरकर यथायतन में ने लये ।

×

×

×

'यो मुद्गरपाणि यदा, भित्ति दारवकाय मे मुद्गापी सत-सत-
ने यदा, पूजा और धरना थी है । एक दिन थी यही मुद्गा मुद्गा
की । दया लगना यह फल दियाता रहे । जो कि एक एक एक
पूजा मुद्गा ही यथायतन मे मेरी पत्नी है साथ लगाकर एक
या जोमाधिकारी हय उपस्थित करें ? दया लगना ही एक ही कि
कि सतको मे दया पूजा हताण पदा ?

भर्जुन माली वह लौह-मुद्गर घुमाता हुआ तुरन्त पलायन में पहुँचा एवं प्रतीव कर्कश व निदंय मट्टहास के साथ अपने कुकर्मरत छहों पुरुषों का उस मुद्गर से वहीं बध कर दिया और उसके बाद उसने अपनी पत्नी की भी हत्या कर दी ।

✕

✕

✕

छह पुरुष और एक स्त्री की हत्या.....भर्जुन माली यज्ञ-प्रभाव के कारण उन्मत्त बन गया । जब वह उस लौह-मुद्गर को घुमाता और भयंकर निनाद करता हुआ राजगृह नगर के चारों ओर घूमकर काटने लगा ।

३

उसका प्रतिदिन का क्रम बन गया कि वह किसी भी प्रकार नित्य छह पुरुषों और एक स्त्री की हत्या कर डालता । रोज सात हत्याएं उसके प्रतिशोध की छत्र उन्मत्तता में होने लगीं ।

सारे नगर में घातक छा गया । राजा ने नगर के द्वार बन्द करवा दिये और घोषणा करवा दी कि कोई भी नागरिक नगर से बाहर न जाये । जहाँ तहाँ भर्जुन माली के भयावह रूप और उसके द्वारा की जाने वाली निरमम हत्याओं की खर्षा ही सुनाई देती थी ।

ऐसे ही समय में देश-प्रदेश में बिहार करते हुए अपने गन्त मङ्गल के साथ नगर के बहर गुणशील उद्यान में भगवान महावीर का पधारना हुआ । भगवान महावीर के पवित्र दर्शन एक घोर, किन्तु दूसरी ओर अपने प्राणों का भय—राजगृह नगर के नागरिक असमजस में पड़े हुए थे कि क्या किया जाये ?

प्राणों का भय उसे ही रहता है जो घातमा की अनारम्भ

संकट हमें ढिगा नहीं सकेगा—उस संकट को ही हमारे सामने से मिट जाना होगा ।’

‘सुदर्शन, तुम्हारे निर्भय आत्मविश्वास से मुझे अपार ह्रास है, फिर भी मेरी सलाह है कि तुम भगवान् को यहीं से वन्दना कर लो—वे तो सब देखते और जानते हैं ।’—पिता ने फिर आग्रह किया ।

‘क्या आपको अपने पुत्र के आत्म-विश्वास पर विश्वास नहीं है, पिताजी ?’

पिताजी यह भी कैसे कहते ? सुदर्शन पिताजी की अनुमति पाकर महावीर के दर्शनार्थ एकाकी ही चल पड़े ।

X

X

X

‘जीवन निश्चित कतई नहीं, किन्तु मृत्यु परम निश्चित है, मृत्यु के भय से जीवन के तारों को विस्मृत कैसे किया जा सकता है ? मेरा जीवन सार्थक हो जाये, काश, जीवन का यह प्रमृत में स्वयं अर्जुन माली को भी पिला सकूँ—’इसी विचारों के साथ सुदर्शन नगर से बाहर गुणशील उद्यान की ओर निर्भय एवं शान्त भाव से चले जा रहे थे ।

तभी कुछ दूरी पर अर्जुन माली का रोख घट्टीसम गुाई दिया । वह उन्ही की ओर अपना लोह-मुद्गर घुमाता हुआ बढ़ा चला आ रहा था । संकट सामने आया जान अपने आत्मनय का सजोकर सुदर्शन वही ध्यान-मग्न खड़े हो गये । अन्नम् का प्रथम उनकी बाह्य आकृति पर भी इस स्पष्टता से प्रकटित हो रहा था कि उसके सामने खड़ा होकर हिंस्र पशु भी मरम आगे । अर्जुन माली तो उस अटल प्रथम वृत्ति का दल मरुमा ही, किन्तु

‘मैं तो भक्तिवत हूँ, अर्जुन, तुम्हारा उद्धार तो वीर-पुरु ही करेंगे और वह तुम्हारा अदम्य परिवर्तन होगा। मैं वीरपुरु के दर्शनार्थ ही जा रहा हूँ, तुम भी मेरे साथ चल सकते हो।’

सुदर्शन चागे और उनके पीछे जब अर्जुन माली गुणगो। उद्यान की ओर चलने लगे तो अपनी-अपनी छतों से देत रहे उत्सुक नागरिकों ने उच्च ध्वनि से जयनाद किया और वे भी महावीर के दर्शन हेतु निकल पड़े। यह जयनाद सुदर्शन का नहीं, ऐसे आत्मबल का था, जिसने एक हत्यारे दिल को पतट दिया था।

X

X

X

हे भगवन् ! मेरी आत्मा पापों के मार से दबी जा रही है। मैंने जाने-अनजाने कितने प्राणों का विनाश किया है, कितने प्राणों को अमित कष्ट पहुँचाया है—यह सब कुछ आपकी दृष्टि में है, प्रभु। क्रोध से मैं कितना पागल बना, प्रतिशोध की भाव में कितना जला—यह भी आप जानते हैं। जो हो गया उनके लिए प्रायश्चित्त करके मैं अपने जीवन को विशुद्ध बनाना चाहता हूँ, अन्तर्यामी, आप मुझे अपनी शरण में लीजिये।’

धर्मदेशना समाप्त होने के पश्चात् जब शंता यन्त्र करी अपने-अपने स्थानों को लौट चले, तब भी अर्जुन माली वही पड़ा और उसने भगवान की सेवा में यह निवेदन किया।

‘अपने जीवन में अदम्य परिवर्तन लाने का तुम्हारा प्रयत्न अब प्रबल है तो जैसा तुम्हें सुझकर एवं रुचिकर हो, वेंगा भी ही कर सकते हो, दिवानुप्रिय !’

उनके समूचे पाप बह गये । एक हत्यारा महात्मा बन गया था—
परिवर्तन। की भावमयी प्रक्रिया में ढल कर निखर गया था ।

तभी भगवान ने अपने शिष्यों को उद्बोध दिया—मनुंन
मुनि ने कितना शीघ्र क्षमा उद्धार कर लिया ? इसे कहते हैं—
अद्भुत परिवर्तन !'

'मेरी आत्मा आज विकृति में घंसी जा रही है तथा मैं कुछ वर्ष और संसार में रहूँ याने उसे और गहराई में घंसाता जाऊँ व एक दिन ऐसी स्थिति में पहुँच जाऊँ कि पतन की उस गहराई से उसे बाहर निकाल पाना ही कठिन हो जाये—ठीक उसी तरह कि दो चार रोज भाग बुझाने से रुकने पर वह गृह ही पूरे तौर पर भस्म हो जाये । मत आज के उत्साह को मैं शिथिल बना दूँ—ऐसी सलाह आप क्यों देते हैं ?'

अरणिक ने तार्किक रूप से महाराज का मुँह बन्द कर दिया तो उसकी माता ने ममता के स्वर में उससे कहा—

'बेटा, अरणिक, तू नहीं जानता कि मैं अपनी पुत्रपुत्री और अपने पोतों का मुँह देखने की कितनी गहरी उत्कंठा रखती हूँ ? तू अपनी माँ की इस उत्कंठा को पूरी नहीं करेगा ? अपनी बहुत लम्बा है, समय आने पर दीक्षा भी लेना—हम मुझे जग नहीं ।'

'क्या माताजी, आप अपने बेटे के आयुष्य की एक दिन की भी सुनिश्चितता मान सकती हैं ? एक पल का भी कहीं ठिकाना है ? माँ की दृष्टि का केन्द्र उसका बेटा जब महाप्रतिष्ठापण पर प्रस्थान कर रहा हो तो मा के लिये इससे बढ़कर कोत-मा गुप्त हो सकता है ? आपको तो मुझे उत्साह देना चाहिये ।'

महाराज और महारानी ने देग लिया कि किंगी भी पणप से राजकुमार अरणिक अपने निश्चय से डिगने वाला नहीं है । तब उन्हें विचार आया कि जब उनको इतनी सन्मान ही गंगा और धन के सुख को छोड़कर त्याग पथ पर लगी जाता था ही है तो फिर उनके लिये ही संसार में कोतछा प्राप्ति पर क्या है । बेटा नितप्रति नये-नये कष्टों का वरण करे और मा बा

भी ऊपर उठते जा रहे थे । जयनाद के साथ महाराज, महारानी और राजकुमार ने दीक्षा-स्थल के लिये प्रस्थान किया । वहाँ उन्होंने अपने गुरु के सान्निध्य में विधिवत् दीक्षा ग्रहण की ।

दीक्षा के पश्चात् नबदोक्षित महारानी तो अन्य साधियों के साथ अलग विहार करने लगी, किन्तु महाराज और अरणिक मुनि साथ-साथ ही विचरने लगे ।

‘मैं जरा भिक्षा लेने जा रहा हूँ, पिताजी महाराज ।’

‘नहीं, अरणिक मुनि, नहीं । मेरे होते हुए तुम्हें कोई कष्ट करने की जरूरत नहीं है । लाभो, पात्र मुक्त दो मैं ले आता हूँ ।’

पिता मुनि हो गये, फिर भी पुत्र पर से अपना पितृ-मोह दूर नहीं कर सके । साथ में रहने का बड़ा कारण यही था कि अपने पुत्र मुनि को कोई कठिन काम न करने दें और उसकी हर हूँ धै सार-सभाल रखे । अरणिक मुनि को वे न तो सार्ध-गर्भी बाहर निकलने देते और न उन्हें वस्त्र-पात्रादि का तनिक भी भार उठाने देते । इस तरह अरणिक मुनि कष्टतहिष्णु नहीं बन सके । उनके शरीर की कोमलता कठोरता में बदल न सकी ।

यकायक एक दिन अरणिक के पिताजी महाराज की त्रिपण बहुत ज्यादा खराब हो गई । जब अन्तिम अंशान अंत ग्रहण करने के पूर्व उन्होंने अपने पुत्र मुनि को बुलाकर कहा—

‘अरणिक मुनि, मैं अपने शरीर पर से भी मोह छोड़ रहा हूँ, किन्तु विवश हूँ कि तुम पर से मेरा मोह दूर नहीं हो पा रहा है । क्या करूँ—मैंने तुम्हें अपने मन और नेत्रों में कमी दी नहीं रखा ? तुम समयनिष्ठ रहकर अपने जीवन का अंश निकाल प्राप्त करो—यही मेरा अन्तिम आशीर्वाचन है ।’

घोर दूबने दीक्षा के उपरान्त भी अपने पिता की छाया में रहने हुए कभी कोई कष्ट उन्हें देखा नहीं, उस पर पहना ही मौला ऐसी भीषण गरमी से सामना करने का मिला, वे व्यथित हो उठे ।

वे चले जा रहे थे नगर की घोर—किन्तु यह प्रसन्न ताप उनके लिये अतीव असह्य हो उठा था । पैर चरमी घोर फातोनों की दुहरी मार से बुरी तरह जल रहे थे, सिर तप रहा था घोर सारा शरीर दहक रहा था—फिर भी पर-कटे पक्षी की भाँति तबकती हुए वे चले जा रहे थे ।

नगर में प्रवेश करते ही धार्मिक मुनि को सामने ही एक विशाल घट्टालिका दिखाई दी । पृथ्वी पर बुरी तरह तबकती हुई मछली को जैसे जलकुंड दिखाई दिया । वे कुछ क्षण विश्राम के लिये उस घट्टालिका की छाया में खड़े रह गये ।

घट्टालिका की स्वामिनी वेश्या ऊपर के झरोखे में बैठी हुई खस खस की गीती टाटियों से शीतलता और गुण-व का आनन्द ले रही थी । अचानक उसकी नजर नीचे ठहरे मुनि धार्मिक पर जा बिरी—उसने देखा, आकर्षक और सुकोमल देहगारी एक सतीना नौजवान घबराया सा साधु के वेश में लड़ा है । तिमरी तो देवता चाहिये, वह वही तो देवता है । भोगवती वेश्या साधु के शरीर का देखकर ही मोहित हो चकती थी, साधु के साधुत्व का देवता की दृष्टि तो उसके पास ही कहीं ?

वह अथ्य आकृति जैसे पक्षी ही नजर में उस वेश्या के मन में गहरे पंठ गई और उस सौन्दर्य मुरझाने में पक्षी ही भाग में उस पक्षी को फासने की पूरी योजना सोच ली ।

‘आप इतने सुन्दर, इतने कोमल और इतनी मुरझाने में बसकर रहते हैं, अथ्य !’

वैश्या बसुर और कुगल थी । मुनि की प्राणु-भावा प्रवस्था का लाम उठाने का उनसे निश्चय कर लिया । उगो यकायक अपनी चिकनी और पुरी बाहे मुनि के गले में ही गान दी और उनकी आँखों में अपनी मादरु प्राणों उतरते हुए विद्वान् स्वर में कहना शुरू किया—

अब इन काष्ठपात्रों को फेंक दीजिये, मेरे पिय, क्या भोग यह बाहुपाश अब आपको फिर से बाहर जाने देगा ? आप इस आनन्दधाम को छोड़कर अब वापस न लौटिये—'और उगो अपनी लुमावने हाव-भावों, तीबे कटाको एत मादरु मनुहारों में मुनि का वहीं रोक लिया । तब रजत पाल नामों रगहर उगो अरुणित को भोजन कराया और त्यागी से पुन भोगी बना लिया ।

X

X

X

नारी ने अरुणिक के जीवन में कभी प्रेम नहीं किया था । जब उसने प्रेम किया तो अरुणिक उठी महारत में कि रणिक सब कुछ भूल गये । वे अपनी मयम और आत्मा यान का भूल गये, अपने पिता के अन्तिम आशीर्वाचन का भूल गये और भूल गये अपनी जीवित साध्वी मा की अनुभूति का ।

‘क्या सोच रहे हैं आप, मेरे प्रिय ।’

‘कुछ भी तो नहीं प्रिय—मैं तुम्हारे विषय सोचना ही क्या हूँ ?’

‘कितनी सीमाव्यगलितनी तू वा आप मर ही गयी होगी हूँ ।’—वैश्या जैसे निश्चल थी ।

‘और मेरा सीमाव्य तो तुम्हारे ही अहं में गया गया है, मेरी अकथायिनी ।’

गर्मी के कष्ट से घबरा कर सुना है कि अरणिक मुनि किसी नगर में एक वेश्या के सहगामी बन चुके हैं ।'

'क्या कह रही हैं, पाप ! मेरा अरणिक ऐसा कमी नहीं कर सकता । आपने झूठ सुना है ।'

'साध्वीजी, हमने सुना ही है, देखा नहीं । कौन जाने, झूठ ही हो सकता है !'

किन्तु अरणिक मुनि-वर्म छोड़कर भ्रष्ट हो गया है—इस कथन मात्र ने ही माताजी महाराज के मस्तिष्क पर ऐसा तीव्र आघात पहुंचाया कि वे अपनी सुष-गुष ही रों वैठी । माता के हृदय पर ममता की ठेस बहुत घातक होती है ।' वे पागल-सी हो गई । उसी क्षण से—

'बेटा अरणिक, बेटा अरणिक—यह तुमने क्या किया ? यह तुमने क्या किया ?'..... चिल्लाती हुई गली-गली, गांव-गांव । मटकने लगी ।

साध्वियों ने उन्हें समझाया, नागरिकों ने उनके नेटों को दूढ़ निकालने का वादा किया, लेकिन मन की पगुड़ी उगड़ नहीं सो उखड़ी ही रही । वे अपनी साथ की साध्वियों को भी छोड़कर अकेली ही इधर-उधर नगर-वन में घबकर लगाने लगीं । जहाँ जातीं वहाँ पगली समझ कर नगर के वालक उनके पीछे हो जाते और तालिया पीटते रहते । उनके मुह में तो इतना एक वाक्य ही सिवाय कुछ और फूटता ही नहीं था । एह ही रट थी—

'बेटा अरणिक, बेटा अरणिक !'

गर्भी के कण्ठ से घबरा कर सुना है कि अरणिक मुनि किमी नगर में एक वेश्या के सहगामी बन चुके हैं ।'

'क्या कह रही हैं, माप ? मेरा अरणिक ऐसा करी नहीं कर सकता । आपने झूठ सुना है ।'

'साध्वीजी, हमने सुना ही है, देखा नहीं । कौन जाने, झूठ ही हो सकता है !'

किन्तु अरणिक मुनि-वर्म छोड़कर भ्रष्ट हो गया है—इस कथन मात्र ने ही माताजी महाराज के मस्तिष्क पर ऐसा तीव्र आघात पहुँचाया कि वे अपनी सुष-बुष ही तो वैठीं । माता के हृदय पर ममता की ठेस बहुत घातक होती है ।' वे पागल-गी हो गईं । उसी क्षण से—

'बेटा अरणिक, बेटा अरणिक—यह तुमने क्या किया ? यह तुमने क्या किया ?'..... चिल्लाती हुईं गली-गली, गाँव-गाँव में मटकने लगीं ।

साध्वियों ने उन्हें समझाया, नागरिकों ने उनके पैरों को दूढ़ निकालने का वादा किया, लेकिन मन की पगुड़ी उगाड़ पूरी से उखड़ी ही रही । वे अपनी साय की साध्वियों को भी शोशा प्रकेंनी ही इधर-उधर नगर-वन में चक्कर लगाने लगीं । वहाँ जातीं वहाँ पगली समझ कर नगर के वातक उनके पी-शो शो और तानिया पीटते रहते । उनके मुँह से तो इस एक वी-क सिवाय कुछ और फूटता ही नहीं था । एक ही रट थी—

'बेटा अरणिक, बेटा अरणिक !'

फिर ग्रीष्म ऋतु आ गई थी। मट्टालिका के उसी क्रोशे में सब एकाकी वेश्या नहीं—वेश्या और अरणिक दोनों चौपट खेलते हुए खस-खस की पीली टाटियों की शीतलता और सुगन्ध का आनन्द ले रहे थे। सूर्य के घोर आतप से तपते हुए आकाश और तपती हुई धरती की ओर एक सरसरी-सी नजर डालते हुए अरणिक बोले। जैसे वे किसी और से नहीं, स्वयं से ही कुछ कह रहे हों—

‘पूरा एक वर्ष होने आ गया। यही सूर्य तप रहा था, यही धरती जल रही थी, यही आसमान धू-धू कर रहा था... और मैं घबरा गया था। मन की दुर्बलता ने मुझे ऐसी पटक दी कि मैं सब कुछ भूल गया।... ..अरे मैं तो राजकुमार था... मट्टालिका से भी बढ़कर प्रासाद की प्रचुर सुख-सुविधाएँ प्रस्तुत थीं मेरे सामने....किन्तु उत्साह से उन्हें ठोकर मारकर मैं निकला था.... मैं क्या निकला था, मेरे कारण ही तो मेरे माता-पिता भी निकल गये थे पिता चले गये, माँ न जाने कहा है और मैं अभाषा पतित होकर यहाँ पड़ा हुआ हूँ ..कैसी विडम्बना है ?’

‘यह क्या हो गया है, मेरे प्रिय, आपको ? आज आपका मन ठीक नहीं लगता, कुछ विध्राम कर लीजिये। कहीं मेरे से कोई त्रुटि तो नहीं हो गई है ?’ और दीड़ी-दीड़ी वेश्या शीतल पेय ले आई और अपने अरणिक को लगनपूर्वक पखा भलने लगी।

प्राशका से वेश्या का मन डोल उठा। इसी कड़ी धूप ने अरणिक का मुँहसे मिलन कराया था और यही कड़ी धूप कहीं उसके विद्योह का कारण न बन जाये। चौपट खेलते-खेलते उन्हें ऐसे विचार क्यों उठ आये ? वह मन-ही-मन जितना ज्यादा घबराती, पला उतनी ज्यादा तेजी से वह भलने लगती।

तमी चीखते चिल्लाते ये कल्प शब्द चारों घोर पर्वों के उस सूनेपन में तीक्ष्णता से गूँज उठे—

वेटा धरणिक, वेटा धरणिक !'

×

×

×

धरणिक के कानों पर भी ये शब्द घाये—एक बार, दो बार, तीन बार, किन्तु इन शब्दों का प्रवाह तो जैसे लगातार बढ़ रहा था। अरे, ये तो उसकी माता के शब्द हैं। ये यही कड़वा सा गई इस कड़ी घूँस में? घोर ये शब्द उस तड़पतड़प के साथ निकल रहे थे जैसे किसी पगलों के मुँह से निकल रहे हों। तो क्या मा पागल हो गई हैं?

घोर यह सोचते ही धरणिक भी पागल हो गया। पमे ये एक झटका लगते ही वह पागलों की तरह उठा, सड़कियाँ बाहर निकला घोर नगे परो गर्म रेत पर उन शब्दों के पीछे पीछे भागने लगा।

जब उस गर्म रेत पर वह दबानू माँ के चरणों में गिर गया था तो उस समय उठे वह गर्म रेत गमार की गनग साँप की शीतल वस्तु नहीं। प्यवाचान्य को घाग जो सगके माँ में चढ़ डी थी, वह गर्म रेत से हजार गुनी ज्यादा गरम जा थी।

धरणिक वेटे का एक बार देखा तो माँ व माँ का जंग घाया किन्तु उस जंग में उगरे जा भागी धरणिक का जंग का रोप भी घाया। वह ब्राची—

वेटा धरणिक, वह तुम्हारे जंग का माँ ? मैं जान किम सुन से विककार है ? त्याग की सीरी है किन्तु मैं तुम्हारे माँ का

अपने स्वर्गस्थ पिता की तो याद कर लिया हीना—स्मृति का एक क्षण इस अमनी अमागिनी माँ के लिए भी तो सुरक्षित रखा होता। तो शायद फिसलने से बच जाता और मुझे भी इस मोड़-व्यथा से बचा लेता. . . . 'बाखिर मा का हृदय कितना रोष करे ?

अरणिक की आँखों के आगे अन्धकार छा गया, कठ रुध गया मगर कुठा टूट गई थी । मा के चरणों में अपने मस्तक को रगड़ते हुए वह इतना ही दोल सका—

'मा, क्षमा कर दो मुझे—मैं इसका कठोर प्रायश्चित्त करूँगा । जिस गर्मी ने मेरे त्याग को गला दिया, अब उग्र त्याग से मैं उस गर्मी को ही गला दूँगा ।'

✕

✕

✕

सूर्य के प्रचंड पातप से तप्त लौह-पिंड के समान जलती हुई पर्वत शिला पर जाकर स्थिर ध्यान धरूँगा और कठोर प्रायश्चित्त को सफल बनाऊँगा—' इस अटल निश्चय के साथ पुनः दीक्षित मुनि अरणिक गुरु से आशा लेकर पर्वतमालाओं की ओर चल पड़े ।

उस समय सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को एक प्रज्वलित अग्नि-कुंड की उपमा दी जा सकती थी । कोई प्राणी खुली धूप में नजर नहीं पा रहा था । सभी यथासुलभ छाया में कहीं-न-कहीं विश्राम कर रहे थे, किन्तु कठोर प्रायश्चित्त की भावना से जिन अरणिक मुनि ने अपने मन को मप दिया था, उनके लिये अब कौसी पर्मी ? वे तो उस उष्णता से अतीत हो चुके थे ।

मन की माया कौसी होती है कि जब मन दुर्बल हुआ था

ती वही धूप असह्य हो गई, लेकिन जब घड़ी मन सुईद वन गया तो उसे धूप जैसे अपना अस्तित्व ही खो बैठी। मुनि अरुणिक और सकल्प और उग्र व्रत धारण करके पर्वत पर ऊपर और ऊपर चढ़े ही जा रहे थे। उनके मुख पर तब त्रिकलता या विदोम की एक हलकी रेखा तक नहीं थी।

पर्वत के ऊपर एक तापतप्त शिलाखण्ड पर मुनि अरुणिक ने अपना आसन जमाया और सभी के व्यामोहो से सँगा गुरु होकर ध्यानस्थ हो गये। अरुणिक उस समय सिवाय अपनी प्रान-रत्मा के और कहीं जैसे विद्यमान ही नहीं रहे थे। एतापता में रमण करते हुए वे अन्दर-ही-अन्दर उन ऊचाइयों को पार करी हुए अपने लक्ष्य की ओर आगे और आगे बढ़े ही जा रहे थे।

जैसे तपाती-तपाते सोना एक स्तर पर पहुँचकर कुन्दन बन जाता है, उसी तरह कठोर प्रायश्चित्त में अपने आपको तपाते-तपाते मुनि अरुणिक भी निर्मल और प्रदीप्त कुन्दन बन गये।



